समरथ

जुलाई-सितम्बर 2017 ◆ नई दिल्ली

नाहि तो जनम नसाई

जब अगस्त 1947 में भारत को स्वतंत्रता मिली वह दुनिया के सबसे निर्धन मुल्कों में से एक था। लोगों की औसत आयु सिर्फ 22 वर्ष थी और केवल 17 प्रतिशत लोग लिख-पढ़ सकते थे और प्रति व्यक्ति आय सिर्फ 247 रुपये थी। मूल ढांचे के नाम पर मात्र इतनी ही सुविधाएं थीं जो उपनिवेशिक व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए आवश्यक समझी गई थीं। उच्च शिक्षा की सुविधाएं सीमित थीं। मेडिकल और तकनीकी शिक्षा संस्थानों की संख्या भी बहुत कम थी। सामाजिक और आर्थिक ना-बराबरी भीषण रूप में मौजूद थी। साथ ही देश को अपनी स्वतंत्रता की कीमत धर्म के नाम पर विभाजन के जरिए चुकानी पड़ी थी। इन हालात में देश में जनतंत्र, सेक्युलरिज्म और संवैधानिक शासन की स्थापना हमारे स्वतंत्रता संग्राम की सबसे बड़ी सफलता है जबकि परिस्थितियां तानाशाही के लिए हर प्रकार से अनुकूल थीं।

70 वर्षों में हमने बहुत कुछ हासिल किया है। आज देश में औसत आयु लगभग 69 वर्ष है। प्रति व्यक्ति आय बढ़कर 1,03,219 रुपये वार्षिक हो गई है। साक्षरता की दर 73 प्रतिशत तक पहुंच चुकी है और गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या भी 22 फीसदी से कम है। देश खाद्य पदार्थों की पैदावार में आत्म-निर्भर हो चुका है और अकाल जैसी मुसीबतों से भी छुटकारा मिल चुका है। ये जरूर है कि शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में हमारी रफ्तार सुस्त रही है और हमें बहुत कुछ करना बाकी है। मगर इतना अवश्य है कि इन वर्षों में हमारी जनतांत्रिक संस्थाएं सुदृढ़ हुई हैं और जनतंत्र की जड़ें मजबूत हुई हैं और हर सतह पर कमजोर और दबे-कुचले वर्ग का प्रतिनिधित्व दिखाई देता है और इसी का परिणाम है कि आज लोकसभा के सौ से ज्यादा सदस्य दलित तबके से ताल्लुक रखते हैं।

दुर्भाग्य से पिछले चंद वर्षों में सूरते-हाल बदली है और कुछ ऐसी शक्तियों का वर्चस्व बढ़ रहा है जो मुल्क के इतिहास, उसकी रंगारंगी और और उसकी बहुलता को किसी और ही दृष्टिकोण से देखती हैं और इसे अपने त्रुटिपूर्ण इतिहास दर्शन के आधार पर एक विशेष रंग में रंगना चाहती हैं। उन्होंने राष्ट्रवाद की एक नई परिभाषा गढ़ी है और अतीत के एक ऐसे काल्पनिक स्वर्ण युग को दोबारा वापिस लाना चाहती हैं जिसे 'बारह सौ साल की गुलामी' ने तबाह कर दिया। इस तरह की अवैज्ञानिक सोच असहिष्णुता को जन्म देती है और हर तरह की वैचारिक स्वतंत्रता का गला घोंट देती है। आज जिस तरह सवाल पूछने वाले संस्थानों, विश्वविद्यालयों, मीडिया और एनजीओ आदि को निशाना बनाया जा रहा है वो इसी सोच का नतीजा है। पूर्व राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने अपने एक संबोधन में इसी सोच से खबरदार करते हुए सहिष्णुता, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद और प्रश्न करने को भारतीय परंपराओं का एक अटूट हिस्सा बताया था।

अगर हमें अपने स्वतंत्रता आंदोलन के आदर्शों अपने संविधान और अपने जनतंत्र को बचा कर रखना है तो हमें इन शक्तियों का डटकर मुकाबला करना होगा और यदि हम वास्तव में अपने देश में एक स्वर्ण युग का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें एक ऐसे न्यायप्रद समाज के लिए संघर्ष करना होगा जो हर प्रकार के शोषण, विषमता, भेदभाव से मुक्त हो और जहां मुल्क का हर नागरिक पूरी वैचारिक स्वतंत्रता के साथ सिर उठाकर गरिमा और सम्मान के साथ जी सके।

हो चित्त जहां भय शून्य

■ **रवीन्द्रनाथ टैगोर**

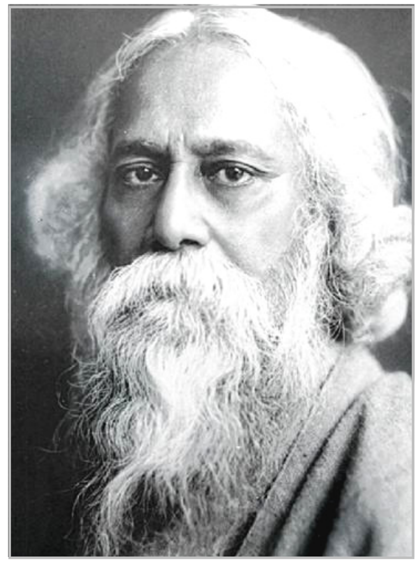

हो चित्त जहाँ भय-शून्य, माथ हो उन्नत
हो ज्ञान जहाँ पर मुक्त, खुला यह जग हो
घर की दीवारें बने न कोई कारा
हो जहाँ सत्य ही स्रोत सभी शब्दों का
हो लगन ठीक से ही सब कुछ करने की
हों नहीं रूढ़ियाँ रचती कोई मरुथल
पाये न सूखने इस विवेक की धारा
हो सदा विचारों,कर्मों की गतो फलती
बातें हों सारी सोची और विचारी
हे पिता मुक्त वह स्वर्ग रचाओ हममें
बस उसी स्वर्ग में जागे देश हमारा.

प्रयाग शुक्ल द्वारा
बाँग्ला से अनूदित 'गीतांजलि' से

चम्पारन शताब्दी समारोह से नील की खेती करने वाला किसान क्यों गायब है?

चम्पारन सत्याग्रह शताब्दी समारोह के शोर के बीच मन में सवाल उठता है कि नील की खेती करने वाले हाड़-मांस के असली किसान, उनका परिवार, उनसे जुड़े लोग आज कहाँ हैं?

■ **शाहिद अमीन**

हर तरफ़ चम्पारन की शताब्दी की धूम मची हुई है। अप्रैल 1917 को इस महीने पूरे 100 साल हो गए और एकाएक गांधी जब अभी 'बापू' या फिर पूरी तरह से 'महात्मा' भी नहीं हो पाए थे, ऐसे 48 वर्षीय —एक तरह से—जवांमर्द गांधी को लेकर अजब हंगामा है बरपा।

'चम्पारन सत्याग्रह' को लेकर दिल्ली से लेकर बिहार तक भांति-भांति के 'आग्रह' हो रहे हैं; चम्पारन का ज़िक्र किए बिना नेतागणों को कल (तसल्ली) नहीं पड़ रही है; पी.आर. के नए-नए मौके ढूंढ़े जा रहे हैं, बनाए जा रहे है। ऐसा लगता है जैसे गांधी उस प्रेमी तुल्य हो गए हों, जिसके बारे में कैफ़ी आजमी ने लिखा था :

इतना तो ज़िंदगी में किसी के ख़लल पड़े,
हंसने से हो सुकून, न रोने से कल पड़े।

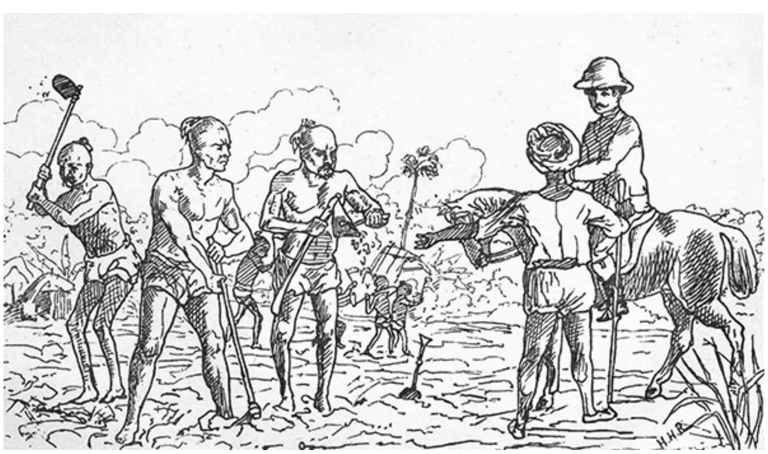

किसी 'महान घटना' की शताब्दी को लेकर इस तरह का 'ड्रामा' हमारे देश में पहली बार नहीं खेला जा रहा है। याद आ रहा है वर्ष 2007 के अगस्त का वह दिन जब दिल्ली में हो रही बूंदाबांदी के बीच सन् सत्तावन (1857) का 150-साला जश्न मनाया गया था।

तमाम ढोल-नगाड़ों के बीच दूरदर्शन पर आया एक सीन अब भी याद है, जब एक वृद्ध बहादुरशाह 'ज़फ़र' का कठपुतला लालकिले की फ़सील पर यकायक नमूदार हुआ था, जिसको 15 अगस्त-वाले मैदान से कार्यक्रम का सूत्रधार पतंग की डोर से हरकत में ला रहा था।

इसी प्रकार अप्रैल के दूसरे पखवाड़े में चम्पारन के नाम पर दिल्ली में एक नए कार्यक्रम की कड़ी जोड़ी गई—'स्वच्छाग्रह' पर ज़ोर दिया गया, जिसके तहत हम सब हर प्रकार की गंदगी, ग़लाज़त, व्यक्तिगत और सामाजिक कचरे के निर्मूलन पर कटिबद्ध होने के लिए प्रतिबद्ध किए गए।

जहां तक बिहार का सवाल है, चम्पारन तो उनका है ही, इसलिए लाज़मी था कि 1917 में गांधी के मुज़फ़्फ़रपुर और मोतिहारी आगमन को लेकर कार्यक्रम आयोजित किए जाएं, लेकिन जब मुज़फ़्फ़रपुर के मशहूर लंगेट सिंह कॉलेज के एक शिक्षक 1917 के रूप में काठियावाड़ी पगड़ी पहने गांधी बनकर एक घोड़ागाड़ी में मोतिहारी के लिए तैयार एक विशेष ट्रेन पकड़ने पहुंचे, तो वहां उनकी

मुठभेड़ एक अन्य सजे-धजे 'महात्मा गांधी' से हो गई।

ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि एक केंद्रीय मंत्री और स्थानीय सांसद ने ख़ास दिल्ली से एक अभिनेता को उसी विशेष ट्रेन पकड़ने के लिए पहले से ही आमंत्रित कर रखा था। स्थानीयता पर कई मायने में 'केंद्रीयता' हावी हो गयी। इसके अलावा भी एकत्रित भीड़ को कुछ और भी देखने को मिला।

दिल्ली वाले अभिनेता साहब के सिर के बाल नदारद थे, कानों पर वही ट्रेडमार्क 'गांधी चश्मा' था, हाथ में एक अच्छी-ख़ासी प्रताड़ित कर देने वाली लाठी और साथ ही भागवत गीता की एक प्रति।

ये 1917 वाले 48 वर्षीय अधेड़ गांधी तो किसी मायने में न थे क्योंकि तब के गांधी अपनी आंखें और हाथ-पैर बिना किसी यंत्र या अवलंब के चारों तरफ़ चलाने में पूरी तरह सक्षम थे। 1917 के मोहनदास करमचंद गांधी को छोड़ ट्रेन 1940 वाले महात्मा गांधी को ही लेकर अपने गंतव्य मोतीहारी के लिए छूटी!

इसी प्रकार प्रांतीय सरकार द्वारा 'चम्पारण (चम्पारन नहीं) सत्याग्रह शताब्दी 2017-18 के लोगो के रूप में भी चश्मा पहने एक वयोवृद्ध गांधी ही हैं : बदन अच्छी तरह से एक लंबी धोती से ढका हुआ, वक्षस्थल पर एक भारी-सी चादर। इस प्रतीकात्मक मूर्ति के दोनों हाथ एक-एक होनहार बालिका और बालक के कंधे पर हैं और इस पूरे चित्रण का आधार है, आज के परिवेश के उथल-पुथल को मानो दर्शाती हुई नीचे से उठती और फिर ठहराव का आभास दिलाती हुई लहरनुमा आकृति। ऐसा लगता है मानो पुरानी फिल्म 'जागृति' का वह देश-प्रेमी गाना पार्श्व में बज रहा हो :

हम लाए हैं तूफ़ान से कश्ती निकाल के
इस देश को रखना मेरे बच्चो संभाल के

अगर हम सरकारी कार्यक्रमों से हटकर नज़र दौड़ाएं तो चम्पारन की हमारी स्मृति (या विस्मृति) में यदि कोई इज़ाफ़ा हो रहा है, तो वह स्थानीय नायकों के संस्मरणों के आधार पर हो रहा है। इस सब गाजे-बाजे के बीच एक इतिहासकार के मन में सवाल उठता है : इन सब में चम्पारन में नील की खेती करने वाले हाड़-मांस के किसान, उनकी बड़ी-बूढ़ियां, बीवी-बच्चे कहां हैं?

ढूंढ़ने पर इनका हल्का-सा ख़ाका भी अख़बारों के पृष्ठों और इंटरनेट की 'वेबसाइटों से उभरकर हमें अपनी पहचान नहीं कराता कि 'मैं हूं चम्पारन के बनबिरवा, मुरली भरभरवा, महारानी भोपट, या फिर जगिरहा कोठी के पट्टी जसौली, लंकरिया या कथरिया गांव के निल्हों और उनके कारिंदों, गारद के अत्याचार से प्रताड़ित अमुक किसान, गाड़ीवान, चरवाहा या बेगारी काटता हुआ स्थानीय मजदूर'।

ये वे गुमनाम किसान थे, जो प्रचलित 'तिनकठिया' प्रथा के चलते अपने खेतों का सबसे उर्वरक हिस्सा देते हुए कोठियों की लगाई गई प्रणाली और धाराओं से बंधे कम-से-कम दो पीढ़ी या उससे भी ज़्यादा समय से वहां कार्यरत थे।

इनका शुमार न तो राजेंद्र प्रसाद, न ही गांधी की आत्मकथा में हुआ। और तो और न ही ये मौजूदा त्वरित परिचर्चाओं में ही नज़र आते हैं। लेकिन ये चम्पारन के किसान ही थे (और इनका भोगा हुआ यथार्थ—जो हर का होता है) जो नील की फसल उगाते, उसे काटकर बैलगाड़ियों पर लाद नीले-कोठियों पर ले जाते, उसके पौधों को घोटते, बड़े-बड़े हौदों में तरतीबवार बिछाते और फिर 'सर-भन्ना' (स्थानीय भाषा में सिर बथना) देने वाली क्वांर मास (सितंबर) की धूप में उन्हीं हौदों में कमर तक उतरकर नील-पौधों को पसाते और भली-भांति बोर और पीट-पाटकर नील-विनिर्माण प्रक्रिया को एक चरण और आगे बढ़ाते।

समकालीन चित्रों में ऐसे ही कुछ किसान नंगे बदन, नंगे सिर नील हौदों में खड़े कार्यरत दिखाई देते हैं। साथ ही इस तमाम क्रियाकलाप पर अंकुश रखे हुए सोला-टोपी लगाए सफ़ेदपोश अंग्रेज़ सुपरवाइज़र और साथ चौकसी रखे हमारे अपने ही ग्रामीण तबके के लठैत।

नील की खेती दुनिया भर में बन रहे सूती कपड़े की रंगाई से पूरी तरह से जुड़ी हुई थी। इसकी काश्त और नील रंग का उत्पादन देहातों में स्थित फैक्ट्रियों (कोठी) और नील के बागान के मालिक अंग्रेज़ 'ज़मींदार' पूंजीपतियों की गिरफ़्त में था। क्योंकि 1860 के बाद से उत्तरी-बिहार और ख़ासतौर पर चम्पारन में इनकी पूरी तरह पैठ थी, इसलिए एक प्रकार से वैश्विक कपड़ा उद्योग और चम्पारन के किसान एक-दूसरे पर पूर्णरूपेण निर्भर थे।

इस पारस्परिक रिश्ते में 19वीं सदी के आख़िरी दशकों में एक और आयाम तब जुड़ गया जब नवोदित राष्ट्र जर्मनी में रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा कृत्रिम नील रसायन का आविष्कार हुआ। इस खोज ने चम्पारन के खेतों से हज़ारों मील दूर जर्मनी में लगे रासायनिक नील कारखानों की चपेट में ले लिया।

विश्वभर में रसायन-नील के सस्ते होने से भारतीय नील के दामों में भारी गिरावट आ गई—बिहार के 'निल्हों' का 'नील साम्राज्य' डगमगाने लगा। इन साहेबान ने वही किया जो सरमाएदार हमेशा करते आए हैं। आर्थिक और राजनीतिक रूप से बलवान निल्हों ने बिहारी किसानों पर बाज़ार की मंदी का हर प्रकार से

पूरा-पूरा असर डालना शुरू कर दिया।

किसानों को दिए गए दाम में कटौती, अधिक लाभदायक ईख या जौ जैसी फ़सलों की खेती पर उसी पुरानी नील-प्रणाली वाली शर्तों पर, इसके अलावा 'शरहबेशी' के तहत कोठी के लिए नील उगाने पर लगान की बढ़ोत्तरी या फिर भारी जुर्माना (तवान) देने पर ही नील से निजात।

नतीजन, न सिर्फ़ छोटे खेतिहर, वरन समृद्ध किसान भी नील कोठियों के बढ़ते हुए उत्पीड़न का अपनी रोज़मर्रा के जीवन में असर महसूस करने लगे। इसी प्रकार के स्थानीय परिप्रेक्ष्य में रूतबेदार किसान (जो सूद पर रूपया भी चलाता था, और जिसके दो पक्के घर भी थे) राजकुमार शुक्ल दक्षिण अफ्रीका के 'विजेता' गांधी के पीछे लगकर, बमुश्किल उन्हें चम्पारन की स्थिति का आकलन करने ले ही आया। 20वीं सदी के पहले दशक से ही इलाक़े में निल्हों और किसानों के बीच तनाव बढ़ रहा था और एक बागान मालिक कृषक आक्रोश का शिकार भी हो चुका था।

स्थानीय अंग्रेज़ कमिश्नर के हिसाब से ऐसे वातावरण में गांधी जैसे एक 'बाहरी' आदमी का आगमन 'नीले चम्पारन' में रंग में भंग डालने के समान था। कमिश्नर मूरशेद का गांधी का चम्पारन से निष्कासित करने का ऑर्डर दर्शाता है कि किस प्रकार ब्रिटिश राज्य का एक साधारण ज़िला होने के बावजूद चम्पारन निल्हों की पूरी गिरफ़्त में था। जहां अंग्रेज़ अफ़सरान के लिए किसी ग़ैर-मक़ामी भारतीय का पैर भी रखना—चाहे वह दक्षिण अफ्रीका का विजेता रहा गांधी ही क्यों न हो—पूर्णरूपेण असह्य था।

इसके बाद वह हुआ जिसकी कमिश्नर साहब को उम्मीद न थी। 100 साल पहले, 18 अप्रैल 1917 को मोतिहारी के एक इजलास में एक अधेड़ गांधी ने स्थानीय एसडीएम के सामने एक नवीन व दृढ़ सिद्धांत प्रतिपादित किया था। विधि और सरकार के वर्चस्व को सिर-आंखों पर लेते हुए गांधी ने दो टूक, पर विनम्र शब्दों में उन पर थोपी गई दफ़ा 144 का सविनय उल्लंघन करते हुए ख़ुद को यथोचित दंड का भागीदार क़रार दिया।

साथ ही चम्पारन की प्रजा का मन राजनीतिक तौर पर प्रदूषित करने के सरकारी इल्ज़ाम को पूरी तरह ख़ारिज करते हुए, चम्पारन न छोड़ने का ऐलान किया। उन्हीं के शब्दों में, 'मैं नील प्रश्न की तरतीबवार जानकारी हासिल करने चम्पारन आया हूं और यथासंभव सरकारी अफ़सरान और बागान मालिकों की सहर्ष सहायता लेते हुए इस कार्य को शांतिमय ढंग से अंजाम दूंगा।'

इसके साथ और इसके बाद, घिसे-पीटे पर यहां आवश्यक शब्दों में—चम्पारन में इतिहास मानो अपने कालचक्र में एक नए तरीके से घटित होने लगा। उर्दू के मशहूर कवि 'मीर' के शब्दों में :

वो आए बज़्म में, इतना तो 'मीर' ने देखा,
फिर उसके बाद चराग़ों में रौशनी न रही।

बिहार के गर्वनर (छोटे लाट) को सुचारू रूप से एक कमेटी बैठानी पड़ी, जिसमें अफ़सरान और नील बागानों के प्रतिनिधियों के अलावा गांधी को किसान नुमांइंदे के रूप में एक ख़ास मुक़ाम दिया गया। लेकिन इससे परे 1917 बिहार की सबसे अहम घटना गांधी और उनके सहकर्मियों के सामने सैकड़ों-हज़ारों किसानों के अपने भोगे हुए यथार्थ के बारे में बयानात थे।

अनगित किसान निल्हे साहबान की परवाह किए बग़ैर गांधी को ढूंढ़ते हुए मोतिहारी और बेतिया में हज़ारीमल की विशाल धर्मशाला में उमड़ पड़े। और यह केवल किसी महानुभाव के दर्शन-हेतु नहीं था। हालांकि गांधी को दिन में एक-आध बार खुद को इन किसानों के सामने पेश करना पड़ता था।

नई बात यह थी कि ये सब किसानगण, बूढ़ी बेवाएं, जवान मर्द, गाय-बकरी चराते छोटे-छोटे बच्चे अपनी-अपनी आपबीती और विपदा को दो टूक शब्दों में बयान कर रहे थे। और यह सब बयानात गांधी के आदेशानुसार बाक़ायदा जिरह और अर्धयाचिका रीतिनुसार उसी समय गांधी के सहकर्मियों (राजेंद्र प्रसाद वकील, बाबू बृजराज किशोर, भूतपूर्व काउंसलर, गोरखपुर से आए विंध्यवासिनी प्रसाद इत्यादि) द्वारा सुचारू रूप से लिपिबद्ध भी किए जा रहे थे।

और क्योंकि गांधी स्थानीय भाषा भोजपुरी नहीं समझ पा रहे थे, इसलिए ज़रूरी था भावपूर्ण बयानात का अंग्रेजी में अनुवाद। संयोगवश, नौ मोटी जिल्दों में कलमबंद की हुई ये आवाज़ें आज भी मौजूद हैं। अगूंठा-निशानों और बमुश्किल कैथी लिपि में लिखे किसानों के हस्ताक्षरों सहित।

अपनी छोटी-छोटी रूदादों और कहानियों को हल्के स्वरों में ही सही, उस सौ साल पहले घटित इतिहास के अनूठे साक्ष्यों के रूप में हमें आज भी निमंत्रण दे रही हैं, मानो कह रही हों, छोड़ो इन सरकारी शताब्दी समारोहों में प्रदत्त प्रसादों को, 'आओ मेरी ओर रउआ सुनी हमार बतिया' (स्थानीय बोली में सुनो हमारी बात)

तो सुनिए दुघई राय की 80 वर्षीय विधवा मां का बयान, 'शरहबेशी के बाद मेरा पुराना लगान 16 रुपये से बढ़ाकर 26 रुपये कर दिया गया। मैंने पहले का लगान कोरट (कोर्ट) में जमाकर दिया था। मेरा एक ही बेटा है, और वह भी अक़्ल से

कमज़ोर है। लगान जमा कर देने के बाद भी कोठी ने मेरे ऊपर दावा ठोंक दिया। मामला कोरट में है, फिर भी एक दिन कोठी के कारिंदे और अमला, रामजी राय के साथ मेरे घर पर आ धमके और घी और दही बांध देने को कहा। कोठी के गारद भी उनके साथ थे। सब मिलकर मेरे बेटे को पीटने लगे, और जिलेदार ने बेचारे की छाती पर लकड़ी का हेंगा रखकर उस पर बल देने की धमकी दी, इस पर मैं फूट-फूटकर रोने लगी, हाथ-पैर जोड़ने लगी और वहीं 27 रुपये लगान के अदा कर दिए। मटुक सिंह को अपना खेत बेचकर 27 रुपये तो कोठी को गए, लेकिन उन लोगों ने केवल 24 रुपये ही मेरे खाते में दर्ज किए, बाकी 3 रुपये सिपाही और दूसरे अमला डकार गए।'

किसान माखन राय की बूढ़ी मां ने 23 अप्रैल 1917 को मोतिहारी में राजेंद्र प्रसाद को भी इसी प्रकार की ज़ोर-ज़बर्दस्ती का क़िस्सा सुनाया, जो आज भी भारत के प्रथम राष्ट्रपति के हाथ से लिखे अंग्रेज़ी अनुवाद में मौजूद है, 'जब पिछले सुक (शुक्रवार) को पियादे हमारे घर आए, तो पहले तो मेरे बेटे की बांह धर घसीटते हुए घर से बाहर ले गए, फिर उसके हाथ पीछे बांध उसे बुरी तरह पीटा। मैं तो अन्दर जांते में गेहूं पीस रही थी। मैं घर में अकेली औरत हूं, बेटे की हाय-दुहाई सुनकर मैं बाहर निकली और उसे न पीटने की गुज़ारिश करने लगी। मुझे पीछे धकेलते हुए उन लोगों ने मुझसे दो रुपये की मांग की, जब घर से निकालकर मैंने दो रुपये दिए तब वे सब वहां से चले गए'।

कोठी के अमला-सिपाहियों का आतंक ऐसा था कि जब कभी भी उनकी गाज किसी किसान पर गिरती तो रुपये-पैसे के अलावा घर में जो कुछ भी हाथ लगता उसे उठा ले जाते। महारानी बोपट गांव के यहां महाबीर कोइरी के घर से पिपरा/ जगिरहा के धुली राय और जद्दू राउत लठैत पांच मन हल्दी उठा ले गए।

हाल यह था कि घर की रोज़मर्रा की चीज़ें जैसे बर्तन-भांडे, लुग्गा-साड़ी भी पियादे लोग उठा ले जाते। पढ़िए 50 वर्षीय फड्डी मियां, जो उस समय स्थानीय कोठी से लोहा ले रहे लोमराज सिंह के असामी थे, का यह बयान :

'जब मैं घर पहुंचा तो पता चला कि मेरी ग़ैर-मौजूदगी में मेरे घर का काफ़ी सामान पड़हू लोहार के लोहारे में उठा कर रख दिया गया है और वहीं एक पाकड़ के पेड़ के नीचे कोठी के कारिंदें बैठे हुए हैं। 2 पसेरी (क़रीब 10 किलो) धान तो मुझे मिल गया। मगर रोज़मर्रा की और चीज़ें, जिनमें 2 लोटे, 1 छीपा (थालीनुमा एक बर्तन), 1 जनानी धोती, 2 कुरते और दो गमछे हमारे घर से गायब हैं। पड़ोसी ग़रीब मियां को भी दो जनानी धोतियों से इसी तरह हाथ धोना पड़ा था।'

फिर शकूर जोलाहा के 11 साल के बेटे अफ़दर, जो गांव में चरवाही करता था, उसका बयान, 'मेरे पास 3 और 20 (23) गौवें (गायें) हैं, जिनको चराने के एवज में गांव वाले हर साल मुझे अनाज देते हैं। एक दिन फागुन के आसपास गांव की परती में दोस्त, युसूफ़ और तुलसी के साथ गौवें चरा रहा था। कोठी के देवराज सिंह हमारे पास आया और हुकुम दिया कि अपनी सब गोरु-बछड़ू यहां से राजकुमार शुक्ल के खेत में फसल चरने को छोड़ आओ। हम वहां से भाग गए। शुक्लाजी के खेत में मसूरी दाल और तिस्सी की फसल खड़ी थी। सब गौवें मिलाकर सौ से अधिक रही होंगी। अगले दिन फिर कोठी के सिपाही आए और हमारी गौवें ले जाकर उसी खेत में चरने को छोड़ दीं। हमारे मना करने पर हमें खूब गालियां भी दी। उस दिन उन्होंने 3 बजे से शाम तक उस खेत में गौवें चरने को छोड़ दी। और गोरखपुर के विंदवासिनी प्रसाद, जो बयान लिखने में हाथ बंटा रहे थे, उनके सवाल के जवाब में अफ़दर ने कहा, 'अभी 12 बजे हैं, 3 इसके बाद बजेगा।' इस बच्चे की गवाही की पुष्टि अफ़दर के अलावा उसके साथी यूसुफ़ और दोस्त के अंगूठे के निशान से की गई, जो आज भी उस कागज़ पर मौजूद हैं।

वर्तमान के बदलते परिवेश में यह बात सटीक लगती है कि ये सब बयानात और वेदनापूर्ण गवाहियां आजकल साबरमती आश्रम में तरतीबवार लिपिबद्ध की जा रही हैं। इस कार्यक्रम की समाप्ति पर 'चम्पारन' पर हमारी समझ कुछ और पैनी हो सकेगी। जोखिम उठाते हुए, इनमें से तीन बयानात का इस लेख में अंग्रेज़ी से वापस भोजपुरी में अनुवाद किया गया है। उम्मीद है कि इस क्रिया से हम कुछ हद तक चम्पारन के किसानों के शब्द, वेदना, उद्गार उनकी ही भाषा में समझ पाने में सक्षम हो सकेंगे।

और एक आख़िरी बात, 'आज जब गांधी की हर व्यक्तिगत चीज़—क्या चश्मा, क्या लाठी—एक और रूपक एक और आख्यान में विलीन होती दिखती हैं, अंततः बची रह जाएगी गांधी की उस आख़िरी दिन लगाई घड़ी, जो उनके जीवन संदेश की सदा याद दिलाती रहेगी। याद रहे कि उनकी कमर से लटकी वो जेबघड़ी आज भी 30 जनवरी, 1948 की शाम के 5 बजकर 17 मिनट पर रूकी हुई है, जब 'हे राम' कहते हुए उन्होंने प्राण त्याग दिए थे। और कुछ नहीं तो यह घड़ी ही हमें याद दिलाती रहेगी कि हम सब ने गांधी और उनके काल के साथ क्या किया।

साभार : द वायर

विपक्ष का ख़त्म होना चिंता का विषय होना चाहिए

प्रेमचंद लिखते हैं, राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है,
उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ सांप्रदायिकता थी।

■ **अपूर्वानंद**

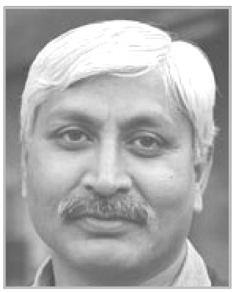

'**जर्मनी** में नाज़ी दल की अद्भुत विजय के बाद यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में जर्मनी फ़ासिस्ट हो जाएगा और वहां नाजी-शासन कम से कम पांच वर्ष तक सुदृढ़ रहेगा? यदि एक बार नाज़ी शासन को जमकर काम करने का मौका मिला तो वह जर्मनी के प्रजातंत्रीय जीवन को, उसकी प्रजातंत्रीय कामना को अपनी सेना और शक्ति के बल पर इस तरह चूस लेगा कि 25 वर्ष तक जर्मनी में नाज़ी दल का कोई विरोधी नहीं रह जाएगा।'

प्रेमचंद ने 1933 में जर्मनी में हुए चुनावों में नाज़ी दल की विजय के बाद 'जर्मनी का भविष्य' शीर्षक के संक्षिप्त टिप्पणी में यह आशंका व्यक्त की थी।

इस अंश में ध्यान देने लायक अंश वह है जिसमें वे जर्मनी की 'प्रजातंत्रीय कामना' को चूस लिए जाने को लेकर चिंतित हैं। प्रजातंत्रीय कामना लुप्त हो सकती है और वह एक ख़ास तरह की राजनीतिक शक्ति के प्रबल होने की स्थिति में ख़तरे में पड़ जाती है, यह वे कह रहे हैं।

लेकिन यह जो जीत हुई है, वह यूं ही नहीं : 'जर्मनी में नाज़ी दल की नाजायज़ सेना का तीव्र दमन और सभी विरोधी शक्तियों को चुनाव के पूर्व ही कुचल डालना ही नाज़ी विजय का कारण है। यह कहां का न्याय था कि वर्गवादियों को जेल भेजकर, विरोधियों को पिटवाकर, मुसोलिनी की तरह विरोधी पत्रों को बंद कराकर चुनाव कराया जाए और उसकी विजय को राष्ट्र मत की विजय बताया जावे।'

प्रेमचंद की इस टिप्पणी को ज़रूरी नहीं आज के दौर पर घटाकर देखा जाए। लेकिन इस टिप्पणी में नाज़ी दल की विजय के पहले विपक्ष के जोर-जबर्दस्ती सफाए पर प्रेमचंद का ध्यान जाता है।

वे जर्मनी के विपक्षी दलों की लानत मलामत नहीं करते कि वे क्यों अपनी रक्षा नहीं कर रहे, यह साफ़ तौर पर कहते हैं कि जुर्म हिटलर का है जो गैर-जनतांत्रिक तरीके से विपक्ष का ख़ात्मा कर रहा है।

विपक्ष का ख़त्म होना चिंता का विषय होना चाहिए और उसके लिए उसे ही ज़िम्मेदार मानने की जगह जो उसे ख़त्म कर रहा है, उस पर सवाल उठाना चाहिए, इसे लेकर प्रेमचंद को संदेह नहीं है। नाजी दल की एक निजी सेना है जो दूसरे जर्मन दलों के पास नहीं।

प्रेमचंद की तीखी निगाह उनके अपने वक्त की दुनिया में जो कुछ भी घटित हो रहा था, उसके आरपार देखती है। उनका अपना पक्ष स्पष्ट है। जर्मनी में जो रहा है उसके लिए वे यूरोपीय सभ्यता को ज़िम्मेदार मानते हैं।

जर्मनी में नाजी दल के एकाधिपत्य के पीछे यहूदियों का दमन भी है। इस दमन के लिए पहले से आधार मौजूद है : 'यूरोपीय संस्कृति की तारीफें सुनते-सुनते हमारे कान पक गए। उनको अपनी सभ्यता पर गर्व है। हम एशिया वाले तो मूर्ख हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं, लेकिन जब हम उन सभी देशों की पशुता देखते हैं तो जी में आता है यह उपाधियां

सूद के साथ क्यों न उन्हें लौटा दी जाएं।'

प्रेमचंद यूरोप में यहूदी विरोधी घृणा के बारे में चर्चा करते हैं : 'यहूदी मालदार हैं और आजकल धन ही राष्ट्रों की नीति का संचालन करता है, माना! रूस में कम्युनिज़्म को फैलाने में यहूदियों का हाथ था, यह भी माना। यहूदियों ने ईसाइयों से पुरानी अदावतों का बदला लेने और ईसाई सभ्यता को विध्वंस करने का बीड़ा उठा लिया है। यह भी हम मान लेते हैं, लेकिन इसके क्या मानी कि एक राष्ट्र का सबसे बड़ा अंग यहूदियों को मिटा देने पर ही तुल जाए। जर्मनी में नाजी दल ने आते ही आते यहूदियों पर हमला बोल दिया है। मारपीट, खून-खच्चर भी होना शुरू हो गया है और यहूदियों को जर्मनी से भागने भी नहीं दिया जाता... वह अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। यहूदियों ने वहां सकूनत अख़्तियार कर ली है। कई पीढ़ियों से वहां रहते आए हैं। जर्मनी की जो कुछ उन्नति है उसमें उन्होंने कुछ कम भाग नहीं लिया है, लेकिन अब जर्मनी में उनके लिए स्थान नहीं है।'

प्रेमचंद की इस टिप्पणी को फिर आज के वक़्त की रोशनी में पढ़ने की ज़रूरत नहीं लेकिन वे उस समय भी अपने देश की स्थिति की तुलना, जर्मनी में जो कुछ हो रहा था, उससे करते हैं : 'इधर कुछ दिनों से हिंदू मुसलमान के एक दल में वैमनस्य हो गया है, उसके लिए वही लोग ज़िम्मेदार हैं, जिन्होंने पश्चिम से प्रकाश पाया है और अपरोक्ष रूप से यहां भी वही पश्चिमीय सभ्यता अपना करिश्मा दिखा रही है।'

इसी पश्चिमी सभ्यता का एक आविष्कार राष्ट्रीयता है। टैगोर की राष्ट्रवाद की आलोचना से प्राय: सब परिचित हैं। भगत सिंह ने राष्ट्रवादी संकीर्णता की जो आलोचना की, वह कम प्रचारित है। उन्हें कट्टर राष्ट्रवादी के रूप में प्रचारित किया जाता रहा है।

प्रेमचंद 'राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता' शीर्षक निबंध में लिखते हैं, 'राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ़ सांप्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। सांप्रदायिकता अपने घेरे के अंदर शांति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे ज़रा भी मानसिक कलेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अंदर रामराज्य का आयोजन करती है।'

प्रेमचंद राष्ट्रीयता की जगह अंतर्राष्ट्रीयतावाद को तरजीह देते हैं। यह गांधी, नेहरू और भगत सिंह के विचारों से मिलता-जुलता ख्याल है। जिस समय प्रेमचंद लेख रहे हैं, देश के भीतर राष्ट्रीयता का प्रश्न हिंदू-मुस्लिम दायरे में बंटा हुआ है। प्रेमचंद इसमें किसी के साथ रियायत नहीं करते लेकिन देखिए, ख़िलाफ़त के मसले पर भी वे क्या कहते हैं।

वे ख़िलाफ़त के मसले को 'महात्मा गांधी की व्यापक दृष्टि' से न देख पाने की हिंदुओं की कमज़ोरी पर अफ़सोस जाहिर करते हैं, 'सच्चाई यह है कि हिंदुओं ने कभी ख़िलाफ़त का महत्व नहीं समझा और न समझने की कोशिश की, बल्कि उसको संदेह की नज़र से देखते रहे।'

वे और सख़्त अल्फाज़ का इस्तेमाल करते हैं, 'हिंदू कौम कभी अपनी राजनीतिक उदारता के लिए मशहूर नहीं रही और इस मौके पर तो उसने जितनी संकीर्णता का परिचय दिया है, उससे मजबूरन इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि इस कौम का राजनीतिक दिवाला हो गया वरना कोई वजह न थी कि सारी हिंदू कौम सामूहिक रूप से कुछ थोड़े से उन्मादग्रस्त तथाकथित देशभक्तों की प्रेरणा से इस तरह पागल हो जाती।'

प्रेमचंद उस समय हिंदू संगठन निर्माण और शुद्धि आंदोलनों की आलोचना करते हैं और कहते हैं निराशा इस बात से है कि इसके ख़िलाफ़ उदार नेता भी नहीं बोल रहे।

वे पूछते हैं, 'आज कौन-कौन हिंदू है जो हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दुस्तान की सबसे महत्वपूर्ण समस्या समझता हो। कौम का यह दर्द, यह टीस, यह तड़प आज हिंदुओं में कहीं दिखाई नहीं देती। दस-पांच हज़ार मकानों को शुद्ध करके लोग फूले नहीं समाते, मानो अपने लक्ष्य पर पहुंच गए। अब स्वराज्य हासिल हो गया!'

प्रेमचंद के इस लिखे को सिर्फ उन्हीं के वक्त पर टिप्पणी मानें, 'गोकशी के मामले में हिंदुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख़्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, खामखाह दूसरों से सर टकराना है, गाय सारी दुनिया में खाई जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के क़ाबिल समझेंगे? अगर हिंदुओं को अभी यह जानना बाकी है कि इंसान से कहीं ज़्यादा पवित्र प्राणी है, चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा, तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नहीं समझी।'

प्रेमचंद यह सब कुछ आज से तकरीबन नब्बे साल पहले लिख रहे थे। क्या उस ककहरे पर काम अब शुरू किया जाए?

समय की जरूरत है पानी बचाना

■ अतुल कनक

पृथ्वी पर उपलब्ध पानी में पीने-योग्य पानी की मात्रा बहुत कम है। विज्ञान ने भले ही हमें पानी की संरचना का अध्ययन करके उसका रासायनिक फार्मूला बता दिया, लेकिन आज भी दुनिया की किसी प्रयोगशाला में पानी का निर्माण नहीं किया जा सका है। चूंकि पानी का कृत्रिम तरीके से निर्माण नहीं किया जा सकता, इसलिए पानी को बचाना ही एकमात्र उपाय है।

पिछले दिनों जब मुंबई शहर में मानसून की पहली बारिश के बाद सड़कें दरिया बन कर उफन रही थीं- सुदूर दक्षिण से आई यह खबर विचलित करने वाली थी कि तमिलनाडु इस दशक के सबसे भीषण जल संकट से जूझ रहा है। जून के तीसरे सप्ताह में चेन्नई में पेयजल की आपूर्ति घटा कर आधी कर दी गई। उधर राजस्थान के गंगापुर शहर की संजय कॉलोनी में रहने वाले लोगों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने खर्चे से टैंकर से पानी मंगवाना पड़ रहा है। हालांकि इलाके में पानी की आपूर्ति सरकारी टैंकरों से भी होती है, लेकिन उन टैंकरों के बस्ती में आते ही ऐसी अफरातफरी मच जाती है कि सामर्थ्यवान परिवार किसी अप्रिय स्थिति से बचने के लिए अपने खर्चे पर ही टैंकर मंगवा लेते हैं।

लेकिन चेन्नई या गंगापुर सिटी की खबरें तो उस भयावह स्थिति का एक उदाहरण मात्र हैं, जिसका सामना देश के कई हिस्से कर रहे हैं। दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में पार्वती नदी के किनारे ऐसे कई गांव हैं जहां लोगों को 'बीवरियां' खोद कर अपनी जरूरत का पानी संग्रहीत करना पड़ रहा है। नदी किनारे की रेत में जमे हुए पानी को संग्रहीत करने के लिए खोदे गए छोटे खड्डों को बीवरियां कहा जाता है।

जब सदासलिला कही जाने वाली चंबल नदी की सहायक नदी पार्वती के किनारे बसे हुए गांवों में पानी की ऐसी किल्लत है तो उन शहरों या कस्बों की परेशानी का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है, जहां परिवार की प्यास बुझाने के लिए महिलाओं को मीलों दूर चल कर एक मटका पानी भरने की सहूलियत मिलती है।

हालांकि पिछले वर्ष मानसून की अच्छी बारिश ने कई प्राकृतिक जलस्रोतों को पानी से लबालब करके लोगों को बड़ी परेशानी से बचाया है, वरना तो मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, राजस्थान, झारखंड, ओड़िशा, कर्नाटक और पश्चिम बंगाल के बड़े हिस्से में सूखे की मार ने लोगों का जीना मुहाल कर दिया था। महाराष्ट्र के लातूर में जल संकट के कारण पानी की सप्लाई करने वाले टैंकरों के आसपास परस्पर संघर्ष को रोकने के लिए वहां के कलेक्टर को धारा 144 लगानी पड़ी थी। नांदेड़ में पानी की

कमी के कारण अस्पताल प्रशासन ने मरीजों के जरूरी ऑपरेशन तक टाल दिए। चंडीगढ़ में प्रशासन ने यह फैसला लिया कि कोई व्यक्ति सुबह कार धोता हुआ पाया गया तो उस पर दो हजार रुपए का जुर्माना लगाया जाएगा।

मध्यप्रदेश के टीकमगढ़ में एक नहर की रखवाली के लिए बंदूकधारी सुरक्षाकर्मियों को तैनात किया गया। डिंडौरी के आसपास लोग अपनी जरूरत का पानी पाने के लिए जान जोखिम में डाल कर उन गहरे कुओं में उतरने को मजबूर थे जिनकी तलछट में थोड़ा-सा पानी शेष था और शिमला में पर्यटकों को एक बाल्टी पानी पाने के लिए सौ रुपए का भुगतान करना पड़ा था। बुदेलखंड में तो अब भी कई गांव ऐसे हैं, जहां लड़कों की शादी इसलिए नहीं हो पा रही है कि गांव में उपलब्ध जलस्रोत कुछ बरस पहले सूख गए और गांव की महिलाओं को जरूरत भर का पानी जुटाने के लिए तीन किलोमीटर दूर जाना पड़ता है।

पिछले वर्ष ही उत्तर प्रदेश के मेरठ, सहारनपुर, बागपत, मुजफ्फरनगर, शामली और गाजियाबाद जिलों में प्रदूषित भूजल के उपयोग के कारण कई लोगों के मरने की खबरें आईं। बागपत जिले में हिंडन और कृष्णा नदी के किनारे बसी बस्तियों में हैंडपंप और भूजल के अस्सी नमूने लिये गए जिनमें से सतहत्तर नमूनों में प्रदूषण की मात्रा खतरनाक थी। मध्यप्रदेश के छतरपुर में लोगों को कई किलोमीटर का सफर तय करके एक पहाड़ से गिरने वाली जलधार से बूंद-बूंद पानी इकट्ठा करना पड़ा था। इसके लिए उन्हें शाम होते ही घर छोड़ देना पड़ता था और वे सुबह ही घर आ पाते थे। तेलंगाना के कुछ हिस्सों में चार सौ फुट गहरी खुदाई के बाद भी पानी इतना ही आता है कि आधा घंटा मोटर चलाने के बाद आधी बाल्टी पानी भर सकें। जिन शहरों में जल की उपलब्धता का स्तर अभी भयावह नहीं हुआ है, वहां भी पानी के दुरुपयोग और अपव्यय पर समय रहते रोक नहीं लगाई गई तो संकट की छाया को कितने दिन टाला जा सकेगा यह सवाल महत्वपूर्ण हो गया है।

पृथ्वी पर उपलब्ध पानी में पीने-योग्य पानी की मात्रा बहुत कम है। विज्ञान ने भले ही हमें पानी की संरचना का अध्ययन करके उसका रासायनिक फार्मूला बता दिया, लेकिन आज भी दुनिया की किसी प्रयोगशाला में पानी का निर्माण नहीं किया जा सका है। चूंकि पानी का कृत्रिम तरीके से निर्माण नहीं किया जा सकता, इसलिए पानी को बचाना ही एकमात्र उपाय है।

जिन इलाकों में पानी की हमेशा किल्लत रही है, उन इलाकों के निवासी पानी की असली कीमत जानते हैं और यही कारण है कि पश्चिमी राजस्थान जैसे मरुप्रदेशों में बूंद-बूंद पानी को सहेजने के लिए अनेक तरह के उपाय वहां की जीवनशैली के अंग बन गए हैं। जोहड़ों, टांकों, तालाबों, कुओं और बावड़ियों के माध्यम से वर्षाजल की एक-एक बूंद को सहेजना इन क्षेत्रों में एक परंपरा ही बन गया है। लेकिन जिन इलाकों में पानी सहजता से उपलब्ध रहा, उन इलाकों के निवासियों ने न पानी के अपव्यय के नुकसानों को पहचाना और न ही बारिश के पानी को बचाने का महत्व समझा। यही कारण रहा कि विकास के नाम पर कुकुरमुत्तों की तरह उग आई सीमेंट की बस्तियों में मामूली सूखा पड़ते ही हाहाकार मच जाता है।

कुओं, बावड़ियों, कुंडों, तालाबों और जोहड़ों जैसे जलस्रोत जहां अपने अस्तित्व में पानी सहेजे रखते थे, वहीं इनके कारण भूजल के स्तर को कायम रखने में भी मदद मिलती थी। लेकिन आबादी बढ़ने के साथ जैसे-जैसे बस्तियां बनाने के लिए जमीन की जरूरत पड़ी, लोगों ने इन जलस्रोतों को पाटना शुरू कर दिया। कई पुराने जलाशय पर्याप्त देखरेख के अभाव में जिम्मेदार लोगों की लापरवाही की भेंट चढ़ गए। स्थिति यह हो गई कि अनेक शहर जब बड़े हुए तो उनसे सट कर बहने वाली नदियों तक को अतिक्रमण की भेंट चढ़ना पड़ा। अनियोजित नगर नियोजन ने वर्षाजल संग्रहण और उसके कारण भूजल स्तर में होने वाली वृद्धि के महत्त्व को तो अनदेखा किया ही, धरती की देह पर नलकूप खोद-खोद कर भूजल का मनमाना दोहन भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि नदियों के करीब बसे गांव भी भूजल-स्तर की दृष्टि से डार्क जोन में आ गए।

भारत में नदियों को वंदन करने की प्रथा रही है। हर शुभ अवसर पर एक छोटे-से कलश में जल भरकर सभी नदियों का आह्वान किया जाता है कि वे आकर उस जल को अपनी पवित्रता का स्पर्श दें—'गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती/नर्मदे सिंधु कावेरी जले अस्मिन सन्निधि कुरु।' जब पवित्र कही जाने वाली नदियों के साथ ही विकास के नए सोपान स्पर्श करने की जिद में बुरा बर्ताव हुआ है तो अन्य परंपरागत जलस्रोतों की स्थिति का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। पानी का एक नाम नारा भी है। इसके महत्व के कारण ही इसे समस्त पूजाओं में अनिवार्य बताया गया है। जगत के पालक कहे जाने वाले विष्णु ने इसी नारा में अपना निवास अर्थात अयन बनाया और नारायण कहलाए। लेकिन मनुष्य ने इसके सदुपयोग के महत्त्व को नजरअंदाज कर दिया। अब भी यदि समाज वर्षा जल संग्रहण और पानी के अपव्यय को रोकने के प्रति सचेत हो जाए तो भविष्य को एक बड़ी मुसीबत से बचाया जा सकता है।

साभार : जनसत्ता

लोगों का भीड़ में बदलना और क़ातिल हो जाना विकास का कैसा मुकाम है?

■ सचिन कुमार जैन

भीड़ को राजनीति और सत्ता मिलकर पैदा करते हैं। उन्हें निर्देशित करते हैं। फिर भीड़ उनके नियंत्रण से भी बाहर निकल जाती है। वह किसी की नहीं सुनती।

- 29 सितंबर 2006 को महाराष्ट्र के भंडारा जिले के खैरलांजी में जमीन के विवाद में भैयालाल भूतमांगे के घर पर 50 लोगों ने आक्रमण किया। परिवार के चार सदस्यों को खींचा। उनकी पत्नी और बेटी को नग्न अवस्था में सड़क पर घुमाया। बलात्कार किया और निर्ममता से उनकी हत्या कर दी।

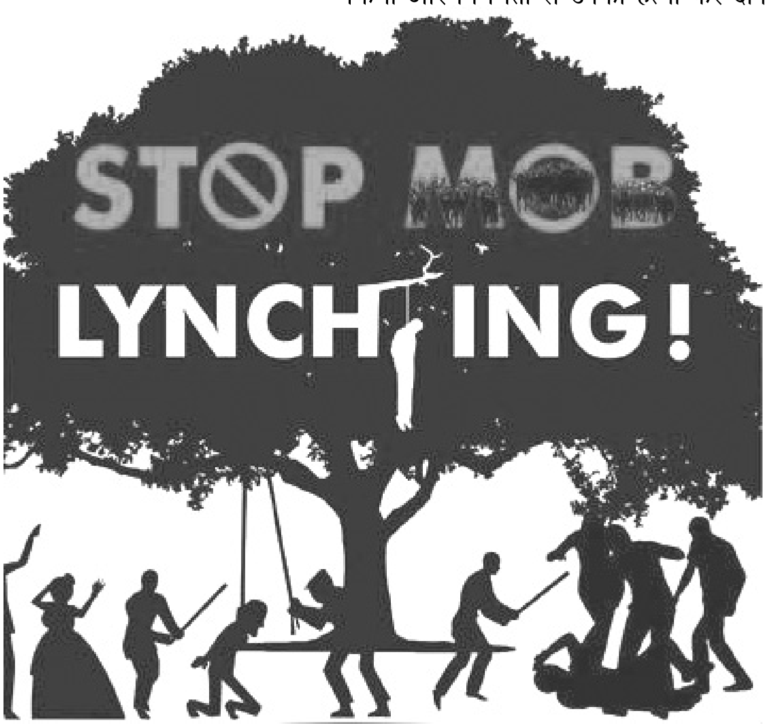

- जून 2017 में 16 साल का जुनैद ख़ान ट्रेन से सफर कर रहा था। बल्लभगढ़ में सीट को लेकर हुए विवाद के बाद अफवाह फैला दी गई उसके पास गोमांस है। इसके बाद भीड़ ने जुनैद की पीट-पीट कर हत्या कर दी।
- झारखंड के चतरा ज़िले में मार्च 2016 में 32 साल के मज़लूम ख़ान और उनके 15 साल के बेटे इम्तियाज़ खान को 'कथित गोरक्षकों' ने मारकर लटका दिया। अफवाह थी कि वे गोवंश की तस्करी कर रहे हैं। हत्या के बाद पता चला कि वे अपने आठ बैलों को बेचने के लिए स्थानीय पशु बाज़ार जा रहे थे।
- दिल्ली में इसी साल एक ई-रिक्शा चालक रविन्द्र कुमार ने नशे में धुत दो युवाओं को खुले में पेशाब करने से रोका। शाम को इसके जवाब में 20 लोग आए और रविन्द्र को पत्थरों-ईंटों से मारा। रविन्द्र की मौत हो गई।
- मध्य प्रदेश में राजपूत परिवार के साथ रहने वाले कुत्ते 'शेरू' ने एक दलित महिला के हाथ से रोटी खा ली। इस पर कुत्ते को अछूत घोषित कर दिया गया, पंचायत बैठी और उस महिला पर 15 हज़ार रुपये का दंड लगाया गया। जाति के नाम पर भीड़ ने मानवीय गरिमा को पूरी तरह से ख़ारिज कर दिया।
- दिमापुर (नगालैंड) में 2015 में सात-आठ

हज़ार लोगों की भीड़ ने केंद्रीय जेल पर आक्रमण किया। बलात्कार के प्रकरण में वहां बंद सैयद फरीद ख़ान नाम के व्यक्ति को बाहर निकला। उसे नंगा किया, पत्थर मारे, उठाकर पटका, करीब 7 किलोमीटर तक खींचा, मोटरसाइकिल से बांध कर घसीटा। फिर उसके शव को वॉच टावर पर प्रदर्शित किया।

- महाराष्ट्र में वर्ष 2015 में गोमांस पर प्रतिबंध लगाया गया। इसके बाद से देश में मांसाहार और गो-हत्या के नाम पर हिंसा का माहौल बनाने का संदेश भी दे दिया गया। इस मुद्दे को इतना उभारा गया कि देश के वास्तविक महत्वपूर्ण लोगों-संस्थाओं-सरकारों ने बेरोज़गारी, भुखमरी, सामाजिक-आर्थिक गैर-बराबरी, खेती के संकट को कारगार में डाल दिया। गाय बचाने के नाम पर कुछ गिरोहों ने 'सड़क पर न्याय और हत्या' का काम खुद हाथ में ले लिया। सरकारें चुप रहीं और ये गिरोह बढ़ते गए। इनकी ताकत बढ़ती गई। भीड़ 1 या 2 या 5 लोगों की हत्या करती है, किन्तु वह व्यापक समाज, युवाओं, बच्चों और प्रतिरोध करने वाले समूहों को संकेत दे देती है। किसी एक की हत्या लाखों ज़िंदा शरीर में मौजूद साहस की हत्या कर देती है।
- दादरी में 28 सितंबर 2015 को मोहम्मद अख़लाक़ नाम के व्यक्ति की भीड़ ने हत्या कर दी। उन्हें शक था कि अख़लाक़ के यहां गोमांस रखा हुआ है। कोई कानून नहीं, कोई न्यायालय नहीं, बस भीड़ ने मृत्युदंड तय कर दिया।
- मार्च 2016 में झारखंड के लातेहार ज़िले में पशु बाजार में जा रहे दो मुस्लिम पशु व्यापारियों को भीड़ ने मारा-पीटा और उनकी हत्या कर दी।
- 22 जून 2017 को श्रीनगर में पुलिस उप-अधीक्षक अयूब पंडित की नौहट्टा जामा मस्जिद के बाहर हत्या कर दी गई। कई बातें कही गईं, पर हत्या तो भीड़ ने ही की थी।

राष्ट्रीय स्थिति

भारत में भीड़ के द्वारा की जाने वाली हिंसा के मुख्य शिकार दलित और मुसलमान हैं। धर्म-जाति-जन्मस्थान या किसी अन्य आधार पर भेदभाव को निभाने के लिए की गई हिंसा में भीड़ मुख्य ज़रिया होती है।

जब इन घटनाओं का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि गोरक्षा के नाम पर हिंसा की गई, कई मामलों ने जाति और ज़मीन के विवाद थे। वस्तुत: अफवाह के आधार पर ही भीड़ ने हिंसाओं को अंजाम दिया।

इन मामलों में राजनीतिक हित हत्यारों को संरक्षण देते हैं। इन मामलों से यह भी एक बात उभरती है कि क्या लोगों का क़ानून, व्यवस्था और न्यायिक व्यवस्था में विश्वास कम हो रहा है?

25 जुलाई 2017 को लोकसभा में गृह राज्य मंत्री हंसराज गंगाराम अहीर ने बताया कि राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) धर्म, जाति, जन्म स्थान आदि (आईपीसी की धारा 153 क और 153 ख) के आधार पर विभिन्न समूहों के बीच शत्रुता को बढ़ावा देने वाले अपराधों के आंकड़े रखता है। बहरहाल गोरक्षा, गाय के व्यापार और दुर्व्यापार से संबंधित हिंसा के आंकड़े सरकार के पास नहीं है।

- एनसीआरबी बताता है कि वर्ष 2014 से 2016 के बीच धारा 153 क और 154 ख से संबंधित मामलों में लगभग 41 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। ये मामले 336 से बढ़कर वर्ष 2016 में 475 हो गए हैं।
- सबसे ज़्यादा वृद्धि धर्म, जाति, जन्मस्थान से संबंधित शत्रुता के कारण हुई हिंसा के मामलों में हुई है। ये मामले 323 से बढ़कर 444 हो गए।
- वर्ष 2014 में इस तरह की सबसे ज़्यादा घटनाएं केरल (65), कर्नाटक (46), महाराष्ट्र (33), राजस्थान (39) में दर्ज हुई थीं।
- वर्ष 2016 में ऐसे सबसे ज़्यादा मामले उत्तर प्रदेश (116), पश्चिम बंगाल (53), केरल (50), तमिलनाडु और तेलंगाना (33-33) दर्ज हुए।
- मध्य प्रदेश में इन तीन सालों में ऐसे प्रकरण पांच से बढ़कर 26 हो गए। जबकि उत्तर प्रदेश में 26 से बढ़ कर 116, हरियाणा में तीन से बढ़कर 16 और महाराष्ट्र 33 से बढ़ कर 35 हुए।
- राजस्थान में 39 से घट कर 22, केरल में 65 से घट कर 50, आंध्र प्रदेश में 21 से घट कर 14 दर्ज हुए।

भीड़ हिंसा को अब किसी एक राज्य और वहां की ख़ास सरकारों के संदर्भ तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि भीड़ का कोई एक धर्म तो होता है।

यह तेज़ी से फैलाई जा रही एक प्रवृत्ति है, जिसे हिंदू या मुस्लिम अस्मिता की स्थापना के नाम पर उभारा जा रहा है, पर एक वक्त के बाद कोई भी सरकार, चाहे वह दक्षिणपंथ की हो या उत्तरपंथ की, इसे नियंत्रित नहीं कर पाएगी।

सवाल यह है कि धर्म के नाम पर, बिना किसी कारण, अफवाहों के आधार पर भीड़ इकट्ठा होती है और हत्या कर देती है।

वस्तुत: लोगों के भीड़ में बदलने और भीड़ के द्वारा हिंसा किए जाने का मनोविज्ञान कहता है कि भीड़ हिंसा अपने आप पैदा नहीं होती, इसे पैदा किया जाता है।

पहले लोगों के एहसास और संवेदनाओं को मार दिया जाता है। फिर उन लोगों को एक भीड़ में जुटा दिया जाता है। ऐसी भीड़ एक ख़तरनाक स्थिति में होती है क्योंकि भीड़ को यह एहसास ही नहीं होता है कि वे निरर्थक ही किसी की हत्या कर रहे हैं!

समाज के बर्बर होते जाने का प्रमाण है भीड़ हिंसा

धर्म और जाति वर्तमान में हिंसा का महत्वपूर्ण बहाना हैं। वस्तुत: धर्म तो अहिंसा के एहसास को जमाने और मनुष्यता को परिपक्व बनाने का ज़रिया होता है; किन्तु बदलते मूल्यों ने इसे हिंसक राजनीति और बर्बरता को न्यायोचित ठहराने का ज़रिया बना दिया है।

एहसास के मर जाने के संकेत क्या हैं? जब एक समुदाय दूसरे के पहनावे को ही सहन-स्वीकार करना बंद कर दे, जब एक समुदाय को दूसरे के खाने पर ऐतराज़ हो, जब एक समुदाय को दूसरे की प्रार्थना पद्धति पीड़ा देने लगे, जब एक समुदाय दूसरे समुदाय या क्षेत्र की भाषा को अपने ख़िलाफ़ मानने लगे, जब केश या दाढ़ी से व्यक्ति की नियति तय होने लगे; तब मान लीजिए कि ऐसे व्यक्ति भीड़ में बदलने के लिए तैयार हैं।

अमूमन ये अपने कृत्यों को सही साबित करने के लिए धर्म या प्राचीन रूढ़ियों को ढाल बनाते हैं, ताकि किसी की हत्या करने के बाद अपने खून से सने हाथों को पानी से धोकर खाना खा सकें और अपने बच्चों को प्यार कर सकें।

संभव है कि कोई वक्त आएगा, जब वे अपने ही परिवार और बच्चों के ख़िलाफ़ हिंसा करने के लिए तत्पर रहेंगे, क्योंकि वे एहसास खो चुके होते हैं।

जिस तरह से प्रतिस्पर्धा बढ़ी है, उसने हिंसा को एक नई ज़रूरत के रूप में स्थापित किया है। हमारी आर्थिक नीतियां इस कदर अनैतिक रही हैं कि उनमें व्यवस्था जनता के प्रति और जनता का एक वर्ग व दूसरे वर्ग के प्रति बर्बर होने की हद तक व्यवहार करता है। दोनों को अपना विशेष वजूद साबित करना होता है।

लोग भूखे, कुपोषित, बेरोज़गार, आश्रयविहीन, असुरक्षित रखे जाते हैं, उन्हें अहिंसा और मानवता की शिक्षा से दूर रखा जाता है, उन्हें दर्द में इलाज़ से महरूम रखा जाता है, उनके मन में यह भर दिया जाता है कि यदि वे बलात्कार नहीं करेंगे तो उनके साथ बलात्कार होगा, उनकी हत्या हो सकती है, इसलिए उन्हें पहले ही दूसरे की हत्या कर देना चाहिए।

उन्हें यह समझने ही नहीं दिया जाता है कि समाज के संसाधन, ज़मीन, जंगल और पूंजी लूट ली जा रही है। लोग तैयार किए जाते हैं, भीड़ का हिस्सा बनाने के लिए।

लोगों का भीड़ में बदल जाना और भीड़ का कातिल हो जाना, यह किस विकास का मुकाम है? क्या हमारे विकास का यही मुकाम तय था?

वास्तव में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यहीन आर्थिक विकास यह तय कर देता है कि किसी भी कीमत पर संसाधनों और सत्ता पर प्रभावशाली (ऊंची जाति, बहुसंख्यक प्रतिनिधि, पूंजी-तकनीक संपन्न और बाहुबल) का नियंत्रण हो।

आर्थिक विकास के नीति निर्माताओं को भली भांति यह एहसास होता है कि इससे समाज में गैर-बराबरी जबरदस्त तरीके से बढ़ेगी। लोगों से उनके आजीविका के साधन छिनेंगे और बेरोज़गारी बढ़ेगी।

लोग भूखे रहेंगे और बीमारियां बढ़ेंगी; किन्तु आर्थिक विकास लोगों को अपनी बीमारी का इलाज करवा पाने में भी अक्षम बना देगा।

निजी क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण मकसद होता है कि सरकार कभी भी समाज और समाज के वंचित तबकों को रियायत, संरक्षण और सुरक्षा न दे, ये तीनों केवल देश-दुनिया के 100 सबसे ताकतवर व्यापारियों-कंपनियों-घरानों को मिलना चाहिए।

ज़रा सोचिए की इस तरह के विकास से एक करोड़ रोज़गार की ज़रूरत की स्थिति में पांच लाख रोज़गार पैदा होते हों। जब किसान से एक रुपये का टमाटर लेकर बिचौलिये और एग्रो-बिजनेस करने वाली कंपनियां 100 रुपये में उपभोक्ता को बेचती हो, जब छह पैसे की दवाई 60 रुपये में बेची जाती हो, तब समाज का नया वर्गीकरण किस रूप में होगा?

तब भारतीय समाज में क्या होगा—बेरोज़गारी, भुखमरी-कुपोषण, अपराध, आर्थिक-लैंगिक-जाति आधारित भेदभाव की चरम अवस्था।

जब देश में 7 करोड़ लोग बेरोज़गार हों, 6.5 करोड़ बच्चे कुपोषित हों, 19.5 करोड़ लोग भूखे सोते हों और एक प्रतिशत लोगों के नियंत्रण में देश 60 प्रतिशत संपत्ति हो, जहां छह करोड़ लोग नैराश्य के शिकार हों, जहां 22 सालों में खेती से जुड़े 3.30 लाख लोगों ने बदहाली-कर्ज के कारण आत्महत्या कर ली हो, जहां एक साल में महिलाओं से बलात्कार के 34,651 और बच्चों से बलात्कार के 13,766 मामले दर्ज होते हों और सरकार की घोषित नीति 15 सालों में 100 घरानों-कंपनियों को 30 लाख करोड़ रुपये की कर-शुल्क रियायत दे देने की हो; वहां समाज

अपनी व्यवस्था में विश्वास नहीं कर सकता है।

सोचिए कि बेरोज़गार, खाने के घर में खाली भंडार, हर तरह हत्या और बलात्कार का खौफ़, बीमारी और दर्द की स्थिति में इलाज़ न मिलने की पूरी संभावना की स्थिति में मानस का चरित्र क्या होगा?

ज़रा सोचिए कि ज़िंदा भारतीय तो भूखा और बेरोज़गार है, पर मर जाने के बाद उसके शव के साथ भी व्यवस्था पूरा दुराचार करने को तत्पर है।

इस तरह के विकास में, जब व्यापक समाज को यह समझ आ जाता है कि विकास के नाम पर उसके खेत छीन लिए जाएंगे, उसका घर गिरा दिया जाएगा, उसे बिना किसी सुरक्षा के धंधे से बेदख़ल कर दिया जाएगा, और जब वह अन्याय का प्रतिरोध करेगा, तो उसे जघन्य अपराधी घोषित कर दिया जाएगा।

उस पर देशद्रोह और राष्ट्रीय सुरक्षा कानून के अपराधी की पहचान चस्पा कर दी जाएगी; तब वह खुद के लिए ताकत की तलाश करता है।

चूंकि कम से कम पिछले 35 सालों यानी एक पीढ़ी को ऐसी शिक्षा दी गई है, जिसमें 'नागरिकता' के बजाय 'सांप्रदायिक और स्वार्थ साधक चरित्र' का ज़्यादा विकास हुआ।

सरकारों की नीति यह है कि समाज भूख, खेती, बेरोजगारी, जंगल-पर्यावरण और गैर-बराबरी पर सत्ता से बहस करेगा, उसे चुनौती देगा, इसलिए ज़रूरी है कि समाज को ज़्यादा से ज़्यादा असुरक्षित बनाया जाए और उसकी भावुकता का आर्थिक-राजनीतिक लाभ उठाया जाए। माहौल ऐसा बनाया जाए, जिससे वह मूल मसलों पर एकजुट न हो पाए, अपने तर्क न गढ़ पाए।

देश की स्वतंत्रता के बाद हमारी व्यवस्था ने शिक्षा-नागरिकता के विकास की ऐसी पहल ही नहीं की कि भारतीय मानस पर जम चुकी हिंसक सांप्रदायिकता की सोच को साफ किया जाए।

सदियों से चली आ रही जातिवादी और लैंगिक हिंसा के चरित्र में बदलाव को 'विकास का आधार' बनाया जाए; युवाओं-महिलाओं को भी जब 'समानुभूति भावना आधारित' समाज के लिए एकजुट होने की सीख हासिल नहीं करने दी गई।

हाल का समाज किसी मूल्य पर आधारित एकजुटता और संगठन की संभावना में विश्वास नहीं कर पाता है। लोग सामाजिक संगठन को अब ताकत नहीं मानते हैं; वे 'भीड़' में ताकत खोजने लगे हैं।

जब 'अविश्वास' चरम पर पहुंच जाता है और राज्य व्यवस्था खुद अन्याय की प्रतीक बन जाती है तब व्यक्ति अपने भीतर की हिंसा को खुला छोड़ देता है।

और जब उसे लोकतांत्रिक और अहिंसक तरीके से प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं मिलता है, जब न्याय व्यवस्था भी दुराग्रही राज्य व्यवस्था के पक्ष में हो जाती है, तब बेरोज़गारी-भूख-बलात्कार-भेदभाव का शिकार युवा और कहीं-कहीं व्यापक समाज 'हिंसा' के विकल्प को अपना लेता है।

वह अकेले हिंसा करने में डरता है, वह बड़ी भीड़ में शामिल होकर हिंसा और कत्लेआम का हिस्सा बन जाता है। बेरोज़गार-गरीब-कमज़ोर-शोषित इसके बाद अपराधबोध के जाल में भी फंस जाता है।

भारत में 'भीड़ द्वारा हिंसा' कोई नया घटनाक्रम नहीं है, लेकिन भीड़ हिंसा को कट्टरपंथी राजनीति और सांप्रदायिकता में श्रद्धा रखने वाली सरकारों का संरक्षण होना इसमें नया जोड़ है।

भारत के शरीर पर पिछले 70 सालों में सांप्रदायिक दंगों के सैकड़ों घाव हैं। देश की स्वतंत्रता ने भी इन दंगों की छाया में ही गृह प्रवेश किया था।

तब से लेकर आज तक समाज-संप्रदाय अपनी सुरक्षा और प्रभुत्व के लिए स्थानीय स्तर से लेकर राज्य और राष्ट्र स्तर तक हिंसा का रास्ता अख़्तियार करते रहे हैं।

एक बेहतर समाज में नफरत और हिंसा को मिटाने के लिए उसके लोगों को सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक आज़ादी और व्यवस्था में समान ज़िम्मेदार भूमिका देना अनिवार्य होता है। हमने भारत में ऐसा नहीं किया।

समाज का एक तबका यह तय करना चाहता है कि दूसरा तबका क्या खाएगा और क्या नहीं; वे क्या पहनेंगे और क्या नहीं; वे यह भी तय कर रहे हैं कि बच्चों को तार्किकता, संस्कृति और वास्तविक इतिहास के बजाय भेदभाव और अंधविश्वास बढ़ाने वाली शिक्षा दी जानी चाहिए।

इसका मकसद यह है कि व्यापक समाज कुछ ख़ास लोगों, धार्मिक नेताओं और ख़ास राजनैतिक विचारधारा के उपनिवेश और गुलाम बने रहें।

भीड़ को राजनीति और सत्ता मिलकर पैदा करते हैं। उन्हें हिंसा के लिए निर्देशित करते हैं। शुरू में उसे नियंत्रण में भी रखते हैं, फिर भीड़ उनके नियंत्रण से भी बाहर निकल जाती है। वह किसी के निर्देश नहीं सुनती।

ज़रा सोचिए कि आदरणीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी बार-बार गंभीरता और ईमानदारी से कह रहे हैं कि गोरक्षा के नाम पर हिंसा बर्दाश्त नहीं होगी, पर भीड़ उनकी भी बात नहीं सुन रही है!

(लेखक सामाजिक शोधकर्ता और अशोका फेलो हैं।)

साभार : द वायर

असहमति देशद्रोह नहीं है, लोकतंत्र का सार है

भारतीय सशस्त्र बल के 114 पूर्व सैनिकों ने हाल ही में संविधान में बताए गए धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक मूल्यों के उलट देश में हो रही हिंसा की घटनाओं पर चिंता व्यक्त करते हुए प्रधानमंत्री, सभी राज्यों के मुख्यमंत्री और केंद्र-शासित प्रदेशों के लेफ्टिनेंट-गवर्नर को एक पत्र लिखा है।

हम भारतीय सेना के पूर्व सैनिकों का एक समूह हैं, जिन्होंने अपनी पूरी ज़िंदगी देश की रक्षा में बितायी है। एक समूह के बतौर हम किसी राजनीतिक दल से नहीं जुड़े हैं। हम सबकी प्रतिबद्धता सिर्फ भारतीय संविधान के प्रति है।

ये पत्र लिखना दुखद है, लेकिन हिंदुस्तान में हो रही घटनाओं ने हमें देश को बांटने वाली इन कोशिशों पर अपनी हताशा ज़ाहिर करने पर मजबूर कर दिया। हम **# नॉट इन माय नेम** अभियान के साथ भी खड़े हैं, जिसने देश के नागरिकों को डर, नफ़रत और शक भरे वर्तमान माहौल के ख़िलाफ़ एक साथ लाकर खड़ा कर दिया।

सशस्त्र बल 'विविधता में अनेकता' का प्रतीक हैं। धर्म, भाषा, जाति, संस्कृति या इस तरह की कोई भिन्नता सशस्त्र बलों की एकजुटता के आड़े नहीं आतीं। अलग-अलग पृष्ठभूमियों से आने वाले सैनिक देश की सुरक्षा के लिए कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते रहे हैं और आज भी लड़ते हैं।

अपनी सर्विस के दौरान हमने खुलेपन, न्याय और निष्पक्षता की भावना से ही काम किया है। हमारी विरासत एक रंग-बिरंगी चादर जैसी है, जिसे हम भारत कह सकते हैं, और हम अलग-अलग रंगों से बुनी इस चादर की विविधता की कद्र करते हैं।

हालांकि आज देश में जो हो रहा है, वो उन सब भावनाओं पर हमला है, जिसके लिए सशस्त्र बल और हमारा संविधान खड़े हैं। हम हिंदुत्व के स्वयंभू संरक्षकों द्वारा समाज के बड़े हिस्से पर हो रहे लगातार निर्मम हमलों के गवाह हैं।

हम मुस्लिमों और दलितों को निशाना बनाए जाने की निंदा करते हैं। हम मीडिया संस्थानों की स्वतंत्रता पर हमले, नागरिक संगठनों, विश्वविद्यालयों, पत्रकारों और शिक्षाविदों को 'देशद्रोही' करार दिए जाने के अभियान और उनके ख़िलाफ़ हुई हिंसा की निंदा करते हैं, जिन पर सरकार चुप्पी साधे रही।

हम अब और चुप नहीं रह सकते। अगर अब हमने उन उदार और सेक्युलर मूल्यों के लिए आवाज़ नहीं उठाई, जिनकी बात हमारा संविधान करता है तो ये देश का नुकसान होगा। हमारी विविधता ही हमारी ताकत है। असहमति देशद्रोह नहीं है; यही तो असल में लोकतंत्र का सार है।

हम केंद्र और राज्य सरकारों से गुज़ारिश करते हैं कि हमारी बातों पर गौर करें और संविधान की मर्यादा बचाए रखने के लिए तत्काल कोई कदम उठाएं।

जबरन थोपे जाने को गांधीजी वंदे मातरम का ही अपमान क्यों मानते थे?

वंदे मातरम पर महात्मा गांधी के विचार कथित राष्ट्रवादियों के लिए एक राष्ट्र को समझने और गढ़ने की सबसे बेहतर पाठशाला साबित हो सकते हैं।

■ **मनीषा यादव**

भारत में राष्ट्र और राष्ट्रवाद को लेकर जैसी बहस आज छिड़ी है, वह भारत की राजनीतिक आज़ादी के बाद इस पर छिड़ी सबसे तेज बहस कही जा सकती है। राष्ट्र को मोटे तौर पर एक राजनीतिक इकाई माना जाता है जिसे अपनी पहचान या अस्मिता कायम करने के लिए झंडे और राष्ट्रगान जैसे प्रतीकों की जरूरत होती है। लेकिन राष्ट्रवाद का छोटा सा इतिहास बताता है कि किसी राष्ट्र को एकटजुट रखने के लिए सिर्फ प्रतीक ही काफी नहीं हैं। राष्ट्र एक भावनात्मक इकाई भी है। इसके सदस्यों के बीच हृदयगत जुड़ाव और साझेदारी इसके होने की अहम् शर्त है। किसी झंडे या गान के प्रति श्रद्धा के पीछे भी यही जुड़ाव और साझेदारी कार्य करती है। मानव समाज चूंकि गतिशील है, इसलिए कोई भी सहमति, समझौता और भावनात्मक एकजुटता सार्वकालिक नहीं हो सकते। इन्हें लगातार बनाए रखने के लिए परस्पर प्रेम, विश्वास और आत्मीय संवादों से सींचते रहने की जरूरत होती है।

हमारे यहां कुछ समय पहले 'भारत माता' और 'गोमाता' को लेकर काफी बहस चली है। अब 'वंदे मातरम' को लेकर भी वह बहस फिर से चल पड़ी है। झंडा, सेना और टैंक को लेकर भी एक राष्ट्रवादी बहस चल ही रही है। ऐसे में यह जानना दिलचस्प होगा कि महात्मा गांधी जैसे भारतीय राष्ट्र के निर्माता 'वंदे मातरम' जैसे राष्ट्रीय गीत के बारे में क्या सोचते थे। ध्यान रहे कि यह वो दौर था जब भारत एक स्वतंत्र राजनीतिक इकाई के रूप में स्थापित नहीं हुआ था और इसके लिए संघर्ष ही चल रहा था।

वंदे मातरम् से महात्मा गांधी का परिचय उनकी किशोरावस्था में ही हो गया था। लेकिन बंकिम चंद्र द्वारा अपने उपन्यास 'आनंद मठ' में इसे डाले जाने के लगभग 25 वर्ष बाद गांधीजी ने इस पर गहराई से विचार किया था। इसका कारण था कि यह गीत तब तक न केवल पूरे बंगाल में बल्कि भारत के अन्य हिस्सों में भी एक राष्ट्रवादी गीत के रूप में फैल चुका था। अपने अफ्रीका प्रवास के दौरान ही दो दिसंबर, 1905 के 'इंडियन ओपिनियन' में महात्मा गांधी ने इस पर एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने इस पूरे गीत को गुजराती और हिंदी में छापा था। लेख का शीर्षक था—'वंदे मातरम् : बंगाल का शौर्यमय गीत'।

उन्होंने लिखा—'बंगाल में स्वदेशी माल का उपयोग करने संबंधी आंदोलन के सिलसिले में विराट सभाएं की गई हैं। उनमें लाखों लोग एकत्रित हुए हैं और सभी ने बंकिमचंद्र का गीत गाया है। कहा जाता है कि यह गीत इतना लोकप्रिय हो गया है कि राष्ट्रगीत बन गया है। अन्य राष्ट्रों के गीतों से यह मधुर है और इसमें उत्तम विचारों का समावेश है। दूसरे राष्ट्रों के गीतों में अन्य राष्ट्रों के बारे में खराब विचार होते हैं। इस गीत में ऐसी कोई बात नहीं है। इस गीत का मुख्य उद्देश्य केवल स्वदेशाभिमान पैदा करना है। इसमें भारत को माता का रूप देकर उसकी स्तुति की गई है। जिस प्रकार हम अपनी मां में सभी गुणों के होने वाली भावना रखते हैं, उसी प्रकार कवि ने भारत माता में सभी गुण माने हैं।'

इसके 10 वर्ष बाद 27 अप्रैल, 1915 को गांधी मद्रास में विद्यार्थियों की एक सभा को संबोधित करने पहुंचे। इस कार्यक्रम की शुरुआत विद्यार्थियों ने 'वंदे मातरम' गाकर ही की। इस पर गांधीजी ने जो कहा था, उसे आज फिर से सुनना और समझना जरूरी लगता है। उन्होंने कहा—'और अब हम उस मनोहर राष्ट्रीय गीत की बात लें, जिसे सुनते ही हम सब श्रद्धा से उठ खड़े हुए। उसमें कवि ने उन सभी विशेषणों का प्रयोग कर डाला

है जिनका उपयोग भारत माता के लिए संभव है। उन्होंने भारत माता को सुहासिनी, सुमधुर भाषिणी, सुवासिनी, सर्वशक्तिमती, सर्वसद्गुणवती, सत्यवती, सुजला सुफला, शस्यश्यामला और महान स्वर्णयुग में ही संभव हो, ऐसे मनुष्यों से बसी हुई बताया है। क्या हमें यह गीत गाने का अधिकार है ? मैं अपने आप से पूछता हूं, 'क्या मुझे उस गीत को सुनकर तुरंत उठ खड़े होने का कोई अधिकार है ?'

'...निस्संदेह कवि ने हमारे सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसके शब्द किसी भविष्य-द्रष्टा के शब्द-मात्र हैं, और हमारी इस मातृभूमि का वर्णन करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे हैं, उनमें से प्रत्येक को चरितार्थ करना आप लोगों का—जो भारत की आशा हैं, काम है। इस समय तो मैं यही समझता हूं कि मातृभूमि के वर्णन में इन विशेषणों का प्रयोग बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण है, और कवि ने मातृभूमि की ओर से जो दावे किए हैं, उन्हें आपको और मुझे सिद्ध करना है।'

आज भी हमारी नवपीढ़ियों को शायद यही समझना है कि हमें अपने राष्ट्र का निर्माण रोज-रोज करना है। परस्पर प्रेम, विश्वास, सद्भावना और मैत्रीपूर्ण संवाद से ही हमें अपनी विभिन्नताओं को समझना और स्वीकार करके चलना है। तभी हम वंदे मातरम् गीत में व्यक्त कवि की भावनाओं को चरितार्थ कर पाएंगे। यह तो खैर हम जनता को समझना है। लेकिन हमारे हुक्मरानों को क्या समझना है ? एक ऐसे समय में जब झंडा, टैंक और राष्ट्रगीत को जबरन आरोपित कर उसे दिनचर्या का हिस्सा बनाने की कोशिश चल रही है, तो यहां भी वंदे मातरम् के संबंध में गांधीजी की कही गई एक और बात लागू होती है।

बिहार के चंपारण के बाद गुजरात में खेड़ा सत्याग्रह का दौर चल रहा था। महात्मा गांधी सरदार पटेल के साथ गुजरात में घूम-घूमकर जन जागृति कर रहे थे। इस दौरान 22 अप्रैल, 1918 को बोरसद तालुक के पालेज गांव में उन्होंने लगभग एक हजार किसानों को संबोधित किया। कार्यक्रम की शुरुआत में लड़कियों से वंदे मातरम् गवाया गया। लड़कियों ने ठीक सुर और लय में इसे नहीं गाया। इस पर गांधीजी ने क्या खूब कहा—'हमारी दैनिक जीवनचर्या में दो कमजोरियां दिखाई देती हैं। एक, हमारे काम ऊपरी होते हैं और दूसरे, हम जो भी करते हैं समझकर नहीं करते। जैसे कोई अभिनेता नाटक में अपने कंठस्थ किए गए अभिनय को दुहराता है वैसे ही हम भी कार्य करते हैं। इसलिए उसका अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पाता है। जैसे नाटक में हरिश्चन्द्र की भूमिका निभा रहे अभिनेता में सत्य की संपूर्ण व्याप्ति नहीं होती, हमारे समाज का व्यापार भी इसी प्रकार चल रहा है। यहां इन कन्याओं ने वंदे मातरम् गीत गाकर यही सिद्ध किया है। हमें अपना काम अधूरे मन से करने की आदत हो गई है। लेकिन जब तक हम अपना कार्य पूरे मन से नहीं करेंगे तब तक हमें सफलता न मिलेगी।'

यही होता है जब हम किसी चीज को जबरदस्ती लोगों की दिनचर्या का हिस्सा बना देते हैं। प्रार्थनाएं या गीत चाहे कितने ही भावप्रवण और उदात्त विचारों से भरे हुए क्यों न हों, यदि उन्हें किसी नियम के तहत रोज-रोज गवाने की अनिवार्यता तय कर दी जाती है, तो वे अपना वास्तविक महत्व खो बैठते हैं। उनमें निहित भावनाएं और अर्थ कहीं पीछे छूट जाते हैं। बल्कि हमारा उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। उन्हें रटना और बड़बड़ाते हुए सामूहिक स्वर में बोल देना बस खानापूर्ति बनकर रह जाती है। वह अपने आप में एक रूढ़ व्यवहार या कर्मकांड बनकर रह जाता है।

1937 में कांग्रेस कार्यसमिति ने इस गीत के प्रथम दो पद्यांशों को राष्ट्र-गान के रूप में सुझाया था। लेकिन साथ ही उसने यह प्रस्ताव भी दिया था कि लोग चाहें तो इसके साथ या इसके बदले कोई और राष्ट्र-गान भी गा सकते हैं। उस दौरान तिरंगे झंडे तक का विरोध हुआ था। वंदे मातरम् को हिन्दू धर्म से जुड़ा मानकर जब कुछ मुस्लिम संगठनों और मिशनरी विद्यालयों ने इसे गाने पर ऐतराज जताया था, तो महात्मा गांधी ने इस गीत की महान भावना को समझते हुए भी इसे जबरन थोपे जाने का विरोध ही किया था।

27 जून, 1939 को बम्बई में एक सभा को संबोधित करते हुए गांधीजी ने कहा—'जिन लोगों को झंडे और सांप्रदायिक एकता से प्रेम है, उनके लिए बुद्धिमानी इसी में है कि अल्पमत चाहे कितना ही नगण्य क्यों न हो, वे उसके विरोध को मान लें।...वंदे मातरम् के गायन पर भी वही लागू होता है। सवाल यह नहीं है कि यह गीत किसने लिखा और कैसे एवं कब बना। बंग-भंग के दिनों में यह हिन्दुओं और मुसलमानों, सभी का बहुत ही प्रभावशाली युद्ध का नारा बन गया था। यह साम्राज्यवाद विरोधी नारा था। जब मैं अपनी किशोरावस्था में 'आनन्द मठ' या उसके अमर लेखक बंकिम चंद्र के बारे में कुछ नहीं जानता था, तब भी 'वंदे मातरम' ने मुझे अभिभूत कर दिया था। और जब मैंने पहली बार 'वंदे मातरम' को गाते हुए सुना तब मैं मंत्रमुग्ध हो गया था...'

'...पवित्रतम् राष्ट्रीय भावना इस गीत में मैंने देखी। मुझे महसूस ही नहीं हुआ कि यह केवल हिन्दुओं के लिए रचा गया है। बदकिस्मती से आज हमारे बुरे दिन आ गए हैं। जो कुछ पहले खरा सोना था, आज वह खोटी धातु हो गया है। ऐसे वक्त में अपने शुद्ध सोने को बाजार में लाना और उसे खोटी धातु के दामों बेचना बुद्धिमत्ता नहीं है। मैं यह खतरा नहीं उठाऊंगा कि मिली-जुली भीड़ में 'वंदे मातरम' का गायन हो और उसपर कोई झगड़ा करे। यदि इसका प्रयोग हम न करें, तो भी इस राष्ट्रीय गीत को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी।' राष्ट्रगान, राष्ट्रीय गीत या देशभक्ति के ऐसे किसी भी प्रतीक को सबके लिए बाध्यकारी या अनिवार्य बनाते समय हमें गांधीजी की इन बातों का याद रखना जरूरी है। राष्ट्र की असल बुनियाद हैं परस्पर विश्वास, प्रेम, सद्भाव और संवाद। बिना इसके कोई भी जबरिया प्रतीक बेमानी है, निरर्थक है, ऊपरी और दिखावटी है। वह फायदे की जगह नुकसान पहुंचाने वाला ही है।

साभार : सत्याग्रह

यह मिथक तोड़ना जरूरी है कि केवल रासायनिक खाद व कीटनाशक दवाओं से कृषि उत्पादकता बढ़ती है

■ **भारत डोगरा**

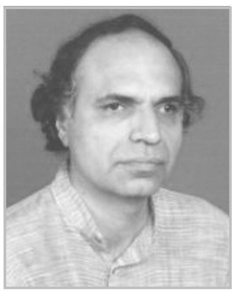

दुनिया में सैकड़ों उदाहरण उपलब्ध हैं जहां महंगी रासायनिक खाद व कीटनाशकों के बिना अच्छी कृषि उत्पादकता प्राप्त की गई है।

पिछले लगभग 50 वर्षों से भारत ने कृषि उत्पादकता को बढ़ाने के लिए रासायनिक खाद व कीटनाशक, जंतुनाशक, खरपतवारनाशक आदि रासायनिक दवाओं पर अधिकतम ध्यान दिया है।

इसके लिए बहुत विविधता वाले, हजारों किस्मों वाले परंपरागत बीजों को हटाकर ऐसी नई एचवाईवी या हरित क्रांति किस्मों को उगाया गया जो रासायनिक खाद की अधिक मात्रा के अनुकूल हैं व जिनके लिए रासायनिक कीटनाशक, खरपतवारनाशक आदि जहरीली दवाओं की जरूरत ज्यादा पड़ती है।

इस नीति को अपनाने के कारण मिट्टी, पानी, खाद्यों की गुणवत्ता, परागीकरण करने वाले मित्र कीड़ों व पक्षियों के साथ पूरे पर्यावरण पर बहुत प्रतिकूल असर पड़ता है।

लंदन फूड कमीशन की चर्चित रिपोर्ट ने बताया कि ब्रिटेन में मान्यता प्राप्त कीटनाशकों व जंतुनाशकों का संबंध कैंसर व जन्म विकारों से पाया गया है।

अमेरिका में नेशनल एकेडमी ऑफ साइंस की एक रिपोर्ट ने बताया कि पेस्टीसाईड की खाद्य में उपस्थिति के कारण दस लाख अतिरिक्त कैंसर के केसों की संभावना है।

विश्व संसाधन रिपोर्ट ने बताया कि कीटनाशकों का बहुत कम हिस्सा (कुछ कीटनाशकों में मात्र 0.1 प्रतिशत) ही अपने निशाने वाले कीड़े को मारता है। शेष कीटनाशक अन्य जीवों को क्षतिग्रस्त करते हैं तथा भूमि व जल को प्रदूषित करते हैं।

पोषण विशेषज्ञ सी. गोपालन ने बताया है कि रासायनिक खादों के अंधाधुंध उपयोग से मिट्टी में सूक्ष्म पोषण तत्वों की गंभीर कमी उत्पन्न हो गई है जो इस मिट्टी में उगाए गए खाद्यों में भी नजर आने लगी है।

ऐसे तथ्यों पर व्यापक स्वीकृति के बावजूद यह कहा जाता है कि अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिए हरित क्रांति के एचआईवी बीजों को अपनाए बिना खाद्य उत्पादन व कृषि उत्पादन बढ़ाना संभव नहीं था।

यह एक बहुत बड़ा मिथक है जिसे निहित स्वार्थों ने फैलाया है ताकि वे रासायनिक खाद व कीटनाशक दवाओं पर आधारित नीतियों का प्रसार करते रहें व पर्यावरण रक्षा करने वाले विकल्प उपेक्षित रहें।

दूसरी ओर हरित क्रांति से पहले व बाद के कृषि उत्पादकता के आंकड़ों से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि वास्तव में हरित क्रांति से पहले कृषि उत्पादकता की वृद्धि दर बेहतर थी, जबकि इस दौरान रासायनिक खाद व कीटनाशक दवाओं का उपयोग बहुत ही कम था।

12 वीं पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज में इस बारे में विस्तृत आंकड़े प्रकाशित किए गए हैं कि हरित क्रांति से पहले के 15 वर्षों में उत्पादकता वृद्धि कितनी हुई है या उसके बाद उत्पादकता वृद्धि कितनी हुई है?

अत: स्पष्ट है कि हरित क्रांति से उत्पादकता में

शेष पृष्ठ 20 पर

मुझे पूरी दुनिया चाहिए

■ **सुमन केशरी**

जब स्त्रियों पर बात करते हुए उन्हे 'आधी दुनिया' कह कर संबोधित किया जाता है तो मैं अक्सर अचंभे में पड़ जाती हूँ! मैं जानती हूँ कि 'आधी दुनिया' हमें आबादी के आधे हिस्से के तौर पर कहा जाता है, पर मुझे यह सुनते ही अपनी दुनिया सच में आधी दिखाई देने लगती है। अक्सर घर तक सिमटी हमारी दुनिया आधी ही तो है... और अगर यह केवल घर तक सिमटी दुनिया नहीं भी है तो भी क्या हम स्त्रियों के लिए वर्तमान दुनिया सच में पूरी दुनिया है? कभी घर के बाहर काम करते हुए भी घर में सिमटा मन तो कभी बाहर काम करने के कारण घर के लोगों के मन से निष्काषित होती औरत।

वर्चस्व की लड़ाई में पिछड़ गए वर्गों को पारिभाषित करने के लिए हमने जो पदबंध इजाद किए हैं उनमें 'आधी दुनिया' और 'हाशिए के लोग' का प्रयोग बहुलता से होता है। पहले ये पदबंध हमें परिभाषित करते थे और अब हम 'हाशिए के लोग' इनसे परिभाषित होने लगे हैं। यानी कि हम मानने लगे हैं कि हम पूरे नहीं हैं और हमें स्पेशल ट्रीटमेंट चाहिए। यदि यह बात उन लोगों के बारे में कही जाए जो वास्तव में सामाजिक-आर्थिक रूप से सबल नहीं हो पाए हैं, तो यह बात सौ फ़ीसदी सही है, पर आंकड़ों को देखें तो स्थिति बिल्कुल उलट है। जो लोग सचमुच में सामाजिक आर्थिक तौर पर कुचले हुए हैं, वे तो बेजुबान ही पीछे छूट गए हैं, या फिर वे प्रदर्शनो-रैलियों के वक्त हमारे बैनरों को ढोने और रैली में संख्यावृद्धि के काम के रह गए हैं। और जो सबल हैं, वे नुमाइंदगी के नाम मलाई काट रहे हैं।

अभी कल ही की बात है, मेरा जाना हुआ, ग्वालियर शहर से मुश्किल से 5-6 कि.मी. दूर एक गाँव में। गाँव के मुहाने पर ही एक बड़ा सा बिजली घर है और कोई नया कारखाना भी खुला है, पर वहाँ की लड़कियाँ स्कूल की पढ़ाई तक पूरी नहीं कर पातीं, क्योंकि गाँव में ढंग का स्कूल नहीं है और शहर का रास्ता सुरक्षित नहीं है। लड़के बाहर आने जाने वाली लड़कियों को सरेआम थप्पड़ मारते हैं। ये बातें ज़ाहिर है मुझे गाँव की औरतों ने ही बतायी। और जैसा कि होता है, वे किसी की बेटी, किसी की भांजी का किस्सा बयान करने लगीं! मैंने कहा, 'चलो हम इसका हल ढूंढें! आख़िर हमें लड़कियों को सबल बनाने के लिए भी उन्हें पढ़ाना और आर्थिक रूप से उन्हें स्वतंत्र करना जरूरी है। आख़िर कब तक वे डर के मारे घरों में कैद करके रखी जाएंगी।'

पर यक़ीन मानिए, इसमें किसी की कोई दिलचस्पी नहीं थी। वे बस रोती जाती थीं, या किस्से सुनाने में मशगूल थीं। किस्से हमारे जीवन को रस से भरते हैं, और अगर वे दूसरे घरों के हों तो क्या कहने, मिर्च-मसाले स्वाद बढ़ाते ही हैं। पर मुश्किल तो यह है कि सब आश्वस्त हैं कि संकट उनके घरों का दरवाजा भी न छू पाएगा!

मैंने फिर एक दूसरी बात छेड़ी। मैंने पूछा कि अगर आपको पता चले कि आपके खुद के भाई या बेटे ने किसी लड़की को छेड़ा या मारा तो आपको कैसा लगेगा? वे चौंक गईं पर जल्दी ही मानो इसे मज़ाक मान लेने की रणनीति अपनाते हुए खी-खी करके हँसने लगीं, 'आप भी बहन जी, कैसी बातें करते हो!' मैने कहा कि आख़िर ऐसा करने वाले मर्द हमारे आपके जैसे घरों से ही तो आते हैं, आसमान से तो नहीं टपकते, न पाताल से आते हैं। मैंने फिर पूछा कि जब घर के मर्द लोग माँ-बहन की गालियाँ देते हैं तो क्या कभी उन्होंने अपने पति, भाई या बेटे को टोका, रोका उन्हें गाली देने से? क्या उन्होंने गाली देने वालों से पूछा कि वे अपनी माँ-बहन के बारे में

दूसरों का क्या रवैया चाहते हैं?

दरअसल इन दिनों मेरे ज़ेहन में अकसर ही ये सवाल उठते हैं कि हमने कहाँ-कहाँ अपनी जमीन छोड़ी या उसके लिए लड़ाई नहीं लड़ी। खुद को विक्टिम बनाए रखना भी एक रणनीति होती है, पर विक्टिमहुड को सतत बनाए रखने के लिए अपनी राह को हम खुद भी रोकते चलते हैं, ताकि हमें चंद संवेदनापूर्ण शब्द मिलें और हममें से कुछ देवियाँ हमारी नुमाइंदगी के नाम पर बड़े पद और ओहदे पा लें या सामाजिक कार्यकर्त्री या लेखिका-कलाकारिन बन जाएँ। वे देवियाँ हम खुद भी हो सकती हैं। पर सचमुच के बराबरी वाले वर्चस्व की स्थितियों को हासिल करने के लिए अपने से, अपनों से सवाल करना जरूरी है। दरअसल अस्मिता की राजनीति इसी तरह चंद लोगों के लिए रोटियाँ सेंकने का काम करती है। तो मैं अपने सवालों को आपसे साझा करना चाहूंगी और उम्मीद करूँगी कि बाहर नहीं तो कम से कम खुद के सामने हम सभी पूरी तरह ईमानदार होने की कोशिश करेंगी—चलिए सच का सामना करते हैं और पूछते हैं कि :

- कितनी लड़कियाँ अपनी शादी में दहेज नहीं ले जाना चाहतीं?
- कितनी औरतें बेटा हो या बेटी इसके प्रति निरपेक्ष रहती हैं?
- कितनी औरतें दृढ़तापूर्वक अपने गर्भ में पल रहे संतान के लिंग जाँच को न कहती हैं और गर्भपात के खिलाफ़ उठ खड़ी होती हैं?
- कितनी औरतें अपनी बेटी को दहेज देने और बेटे की शादी में दहेज न लेने के लिए अड़ जाती हैं?
- कितनी औरतें घर में शांति बनाए रखने को ताक पर रख के सती की पूजा या कोई अन्य ऐसी ही पूजा-व्रत नहीं करतीं?
- कितनी लड़कियाँ या औरतें आगे पढ़ने या नौकरी करने के लिए ठान लेती हैं और घर पर सबको मना लेती हैं?
- कितनी औरतें अपने बेटा और बेटी दोनों को यह छूट देती हैं कि वे अपनी पसंद का जीवन साथी चुने?

कितनी औरतें अपने बेटों से रसोई और सफाई का काम उसी तरह हिदायतें दे दे कर करवाती हैं, जितनी कि अपनी बेटियों से?

कितनी औरतें बेटों से भी धीरज धरने, सहन करने, गाली गलौज न करने, धीरे बात करने और सबसे बड़ी बात यह कि सुन कर चुप लगा जाने की शिक्षा देती हैं?

कितनी औरतें अपनी कमाई को अपना कहने और अपने बनाए घर को अपना मानने का माद्दा रखती हैं। क्या यह सच नहीं कि हम मान ही नहीं पातीं कि यह हमारा घर है—माँ-बाप का घर हमारे लिए मायका है और पति का घर 'न जाने कब छूट जाए' के डर से बिंधा आसरा भर! इसी डर से हम हर वो काम करती चलतीं हैं, हर वो बात मानती चलतीं हैं, जो हमें मनुष्य से कमतर बनाता है। सच तो यह है कि ऐसा करते हुए हम आधी दुनिया तो क्या आधी मनुष्य भी नहीं रह जातीं!

प्रश्न अनगिनत हैं और उत्तर कठोर!

यदि हम इन प्रश्नों के उत्तर अपने मन में भी ईमानदारी से और जिम्मेदारी लेते हुए दें और वह सब करने लगे जो एक विवेकपूर्ण व्यक्ति को करना चाहिए, तो हम पाएँगे कि शनैः शनैः वह होने लगेगा, जो हम खुद अपनी जिन्दगी में चाहते हैं—माने आर्थिक स्वतंत्रता, सम्मान और स्वाभिमान से सर उठा कर जीना! और आधी नहीं पूरी दुनिया पा लेने का हौसला करना!

काम कठिन है क्योंकि इसकी शुरुआत खुद से हो रही है... क्योंकि दूसरे को जिम्मेदार बताना आसान है, खुद से शुरुआत करने और खुद को कठघरे में रखना मुश्किल...

मेरा स्पष्ट मानना है कि अगर हम स्त्रियाँ आबादी के अर्थ में आधी हैं, तो पुरुष भी तो आधे हैं। उन्हें तो कोई आधा संसार नहीं कहता तो हमें क्यों?

मिथक तोड़ना जरूरी है

पृष्ठ 18 का शेष

तेज वृद्धि की बात महज एक मिथक ही है, इसका कोई आधार नहीं है। दूसरी ओर यह सच है कि हरित क्रांति के दौर में रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं, जंतुनाशक दवाओं आदि पर खर्च बहुत तेजी से बढ़ा।

जहां तक खर्च का सवाल है तो पहले 15 वर्षों की उपेक्षा बाद के 12 वर्षों में रासायनिक खाद की खपत लगभग छह गुणा बढ़ गई व पेस्टीसाईड में वृद्धि इससे भी कहीं अधिक थी।

यह बहुत जरूरी है कि अनुचित मिथकों से छुटकारा प्राप्त किया जाए सही तथ्यों पर आया जाए ताकि किसानों के हित व पर्यावरण रक्षा वाली नीतियां अपनाई जाएं तथा किसानों के अनावश्यक खर्चों को कम कर उनके संकट के समाधान की ओर बढ़ा जाए।

इस समय देश और दुनिया में सैकड़ों उदाहरण उपलब्ध हैं जहां महंगी रासायनिक खाद व कीटनाशकों के बिना अच्छी कृषि उत्पादकता प्राप्त की गई है। इनसे सीखते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

(लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं और अनेक
सामाजिक आंदोलनों व अभियानों से जुड़े रहे हैं)

साभार

भारतीय संस्कृति का इतिहास, दास्तान-ए-खुसरो-1

■ **महेश राठी**

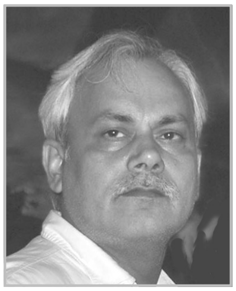

किसी भी संस्कृति की समृद्धि और व्यापकता उसके विविधतापूर्ण चरित्र पर निर्भर करती है। परंतु संस्कृति जब एकरूपता से परिभाषित होती है तो वह फासीवाद की राह पकड़ती है। सामाजिक और सांस्कृतिक समरसता का अर्थ ही है संस्कृति के सब रसों को एकसमान सम्मान देना और उन्हें समान रूप से प्रोत्साहित करना है। परंतु जब सामाजिक और सांस्कृतिक एकरूपता वाली शक्तियां समरसता को एकरूपता का पर्याय बनाती हैं तो फासीवादी खतरे की आहट बनती है। आज भारतीय संस्कृति इन्हीं सांस्कृतिक विविधताओं को ध्वस्त करने वाले खतरों की आहट सुन रही है। भारतीय सांस्कृतिक विरासत के समक्ष तेजी से बढ़ रहे यह खतरे बहुरूपी और बहुआयामी हैं। यह खतरे गंगा जमुनी हिंदुस्तानी तहजीब को एक रंग में रंगने की कोशिश और एकरूप करने की साजिशों को हवा दे रहे हैं। यह हिंदुस्तानी गंगा जमुनी तहजीब किसी खास धर्म की अथवा उस धर्म के इतिहास की कहानी नहीं है बल्कि विभिन्न धर्मों और उनके अनेकों मतांतरों की ऐतिहासिक विरासत की दास्तां है। इसमें संगीत की विभिन्न स्वर लहरियों के घुलने-मिलने और उनसे हिंदुस्तानी संगीत के बनने का इतिहास है, इस हिंदुस्तानी तहजीब में अनेकों दिशाओं से आये कला के रंग समाहित हैं और इसमें शामिल अनेकों बोलियों और भाषाओं से बनी हमारी बोली, हमारी भाषा और उसकी बहुरंगी मिठास। हिंदुस्तानी खान-पान से लेकर कला, संगीत, भाषा और बोली की विविधता इस खुबसूरत हिंदुस्तानी संस्कृति को तैयार करती है। भारतीय संस्कृति की यह विविधता और उसके विविध रंग ही इसके धर्मनिरपेक्ष होने का आधार बनते हैं और जब हम इस धर्मनिरपेक्ष संस्कृति के निर्माण के इतिहास की खोज करते हैं तो जो एक सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण व्यक्तित्व इस क्रम में हमारे सामने उभरता है उसका नाम है अमीर खुसरो और खुसरो की दास्तान भारतीय संस्कृति के विकास का इतिहास है।

वह अमीर खुसरो ही हैं जिनकी जिंदगी का सफर हिंदुस्तानी तहजीब के बनने संवरने के इतिहास का पता देता है। अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अब्दुल हसन यमीनुद्दीन था और अब्दुल हसन यमीनुद्दीन का अमीर खुसरो हो जाने में हिंदुस्तानी तहजीब के बनने और संवरने का दर्शन अन्तर्निहित भी है। इस्लामिक अद्वैतवाद में आस्था रखने वाला अब्दुल हसन यमीनुद्दीन जब भारतीय द्वैतवादी दर्शन के साथ एकाकार होता है तो विशिष्ट अद्वैतवादी अमीर खुसरो बनकर सामने आता है। दुनिया भर में प्रसिद्ध अमीर खुसरो बेशक फारसी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में शुमार होते हों परंतु फिर भी उनकी असली पहचान हिंदुस्तानी तहजीब के एक प्रतिनिधि कवि के रूप में ही थी और यही कारण था कि ईरानियों ने उन्हें 'तूती-ए-हिंद' का नाम दिया।

अमीर खुसरो का जन्म 652 हिजरी अर्थात 3 मार्च 1253 ई. में पटियाली, जिला ऐटा (उत्तर प्रदेश) में हुआ। हालांकि उन के जन्म को लेकर और कई अन्य धारणाएं भी हैं। परंतु देश के अधिकतर विद्वानों का यही मानना है कि उनका जन्म पटियाली में हुआ और सात वर्ष की आयु में वे दिल्ली आ गये थे। इस तथ्य को अमीर खुसरो की रचनाओं से भी बल मिलता है जिसमें उन्होंने जहां एक तरफ दिल्ली की तारीफ में दरियादिली दिखाई तो वहीं पटियाली की दुर्दशा पर दुख भी जाहिर किया।

अमीर खुसरो का पूरा रचना संसार और भारतीय संस्कृति में उनके योगदान की पृष्ठभूमि में उनके परिवार और उनके माता पिता की मिश्रित हिंदु

मुस्लिम संस्कृति की बड़ी भूमिका है। दो विविध संस्कृतियों से बना यह उनका घरेलू वातावरण ही था जो उन्हें ऐसी संस्कृति के निर्माण का बड़ा रचियता बनाता है जिसमें एक तरफ जहां मध्य एशिया से आये रंगों की मिठास थी तो दूसरी तरफ भारतीय संस्कृति के लोक जीवन का देशीपन भी था। इस नई बनती हिंदुस्तानी तहजीब में जहां दो संस्कृतियों के मिलने की शर्त है तो वहीं एक नई तहजीब के बनने की अनिवार्यता भी है और साथ ही है दोनों के अपने-अपने वजूद के साथ बने रहने और चलने का अनूठा अंदाज भी। इस नई तहजीब के बनने संवरने में जब हम इतिहास को खंगालते है तो हमें इसकी जड़ में एक अनूठा किरदार अमीर खुसरो की शक्ल में मिलता है। अमीर खुसरो हमारे सांस्कृतिक इतिहास का एक ऐसा अनूठा नाम है जिसको ना कोई साजिश मिटा सकती है और ना ही कोई सांप्रदायिक उन्माद उसके वजूद को छोटा कर सकता है। बहरहाल, बात अमीर खुसरो के जन्म और पारिवारिक वातावरण की है। 1220 के लगभग तुर्किस्तान में तातरियों के हमले से बचने के लिए वहां के कई परिवारों ने भारत में आकर शरण ली। इनमें से ही एक सैफूद्दीन महमूद लाचीनी का परिवार भी था। यह परिवार उस समय के पटियाली में आकर बस गया। उन्हीं के यहां 1253 ई. में अमीर खुसरो का जन्म हुआ। सैफुद्दीन महमूद शमसुद्दीन अल्तमश की शाही सेना में एक सरदार थे और उन का विवाह नवाब इमादुलमुल्क रावल की पुत्री से हुआ था। नवाब इमादुलमुल्क रावल एक नव मुस्लिम थे जिन्होंने हाल ही में इस्लाम कबूल किया था और यही कारण था कि उनके परिवार के सभी रीति रिवाज हिंदुओ जैसे ही थे। खुसरो की मां पंरपरागत हिंदू रीति रिवाजों में पली बढ़ी महिला थी और यही दो विभिन्न संस्कृतियों का ज्ञान और उनका प्रभाव अमीर खुसरो की जिंदगी के हरेक कदम पर दिखाई पड़ता है। अमीर खुसरो के जीवन पर इस सांझी संस्कृति ने एक दुखद घटना के कारण भी काफी असर छोड़ा। अमीर खुसरो के पिता की उनके बाल्यकाल में मृत्यु हो गयी जिस कारण उनके पालन पोषण का दायित्व उनके नाना नवाब इमादुलमुल्क रावल ने संभाला।

अमीर खुसरो ने 12 साल की उम्र से शायरी करना शुरू कर दिया था और शुरुआती दौर में सुल्तानी तख्ल्लुस के साथ शायरी की और अपने पहले दिवान 'तोहफ्तुस्सिगर' में इसी तख्ल्लुस का इस्तेमाल किया। अपनी शायरी में पहले उन्होंने फारसी के कुछ शायरों का अनुसरण करने की कोशिश की और शुरुआती दौर में उन पर शेख सादी, निजामी, खाकानी और सनाई का असर भी देखा जा सकता है। उनके आध्यात्मिक गुरू हजरत निजामुद्दीन औलिया थे और वे रोज बेनागा उनके दरबार में हाजिरी देते थे। उनका दिन जहां अपने जीवन यापन के लिए बादशाह के दरबार में गुजरता था तो वहीं उनकी शाम हजरत निजामुद्दीन के दरबार में गुजरती थी। हजरत निजामुद्दीन का उनसे प्रेम इस कदर गहरा था कि वे कहा करते थे कि जब खुदा उनसे पूछेगा कि निजामुद्दीन मेरे लिए क्या लाए हो तो मैं अमीर खुसरो का पेश कर दूंगा। हजरत निजामुद्दीन अमीर खुसरो को तुर्क कहकर पुकारते थे। अमीर खुसरो ने 1273 में अपन नाना की मृत्यु के बाद अपने भरण पोषण के लिए कई बादशाहों और नवाबों के दरबार में शायरी की और वे केवल एक शायर ही नही, एक योद्धा भी थे। उन्होंने बुगरा खां के साथ बलबन के पक्ष में बंगाल के बागी प्रशासक तुगरिल के खिलाफ लड़ाई में भाग लिया।

अमीर खुसरो का हिंदुस्तानी तहजीब में योगदान केवल शायरी ही नही उनके भाषाई प्रयोगों, उनके सगीत के क्षेत्र में योगदान से बनता है। उनके इसी योगदान ने उन्हें बनती हुई नई भाषा हिंदवी का पहला लोकप्रिय कवि बनाया तो वहीं काव्य ओर संगीत में उनके नये प्रयोगों ने नई संस्कृति की एसी खूबसूरत इबारत लिख डाली जो आज भी हमारे सांस्कृतिक जीवन का हिस्सा है। दूसरी कलाओं को अपनाकर नई विधाओं को तैयार करने की अमीर खुसरो की इस बेजोड़ प्रतिभा को हम बलबन की जीत के बाद उनके मुल्तान में प्रवास के दौरान देख सकते हैं। अमीर खुसरो बंगाल में बलबन की जीत के बाद बलबन के बेटे सुल्तान महमूद के साथ मुल्तान चले गये। मुल्तान पंजाब और सिंध दोनों का केन्द्रीय स्थान था और अरब एवं इराक से आने वाले संगीतज्ञों, कवियों और सूफी संतों का आश्रय स्थल भी था। इस जगह का अमीर खुसरो पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा और यहीं उन्होंने पंजाबी भाषा की रंगीन मिजाजी को अपनी काव्य रचनाओं में जगह दी और अरबी और तुर्की साजों का उपयोग पंजाब के लोकगीतों के लिए किया। अमीर खुसरो यहा पांच साल रहे और मंगोलों के हमले के दौरान उन्हें मंगोलों द्वारा बंदी बना लिया गया और वे किसी तरह यहां से बचकर दिल्ली पहुंचे। बलबन के बेटे मुहम्मद की मौत पर उन्होंने बेहद दर्दनाक मर्सिया लिखा और कहा जाता है कि उसे सुनकर सुल्तान बलबन इतना रोया कि उसे बुखार हो गया और तीसरे दिन ही उसकी मृत्यु हो गई।

अमीर खुसरो और हिंदी भाषा

खुसरो ने अब अमीर अली सर जानदार की नौकरी कर ली और वे अवध चले आये। अवध में खुसरो ने दो साल का वक्त गुजारा और यहीं उनका परिचय अवधी भाषा के रूप में एक लोचदार भाषा और भाषाई लोच से हुआ। अब उनकी भाषा में अवधी के अलावा ब्रज, देहलवी, पंजाबी और बंग्ला की चाशनी थी और उनकी यही भाषाई चाशनी एक नई भाषा हिंदवी का आधार तैयार कर रही थी। खुसरो ने इस भाषा को हिंदवी अथवा देहलवी का नाम दिया और उन्होंने सबसे बड़ा काम यह किया कि इस भाषा में काव्य रचना की और इसे एक साहित्यिक भाषा बनाने की कोशिश की। परंतु किन्ही कारणों से उन्हें इसमें कामयाबी हासिल नही हुई परन्तु यह भी सच्चाई है कि यही भाषा कई सौ सालों तक बहमनी, आदिलशाही और कुतुबशाही राज्यों में दक्खिनी के रूप में प्रचलित रही और

दक्खिनी का विकसित रूप जब फिर से उत्तर भारत लौटकर आया तो यह उत्तर भारत में सर्व स्वीकार्य खड़ी बोली के रूप में तेजी से प्रचलित हुई। इस प्रकार एक तरह से आज की हिंदी और उर्दू की नींव अमीर खुसरो ने रख दी थी। आज हमारे देश के संविधान को स्वीकृत राजभाषा और पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू इसी खडी बोली की नींव पर खड़ी है।

खुसरो की रचनाओं में हालांकि हमें ब्रज भाषा का भी प्रयोग मिलता है परंतु खड़ी बोली का प्रयोग पहली बार खुसरो की पहेलियों, सुखनों और निस्बतों आदि में ही दिखाई पड़ता है। कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग करके उन्होंने इस भाषा को एक अलग और नई पहचान दी।

'बात की बात ठिठोली की ठिठोली
मरद की गांठ औरत ने खोली'

खुसरो ने अपने भाषा सर्वेक्षण में दिल्ली के आसपास जिस भाषा के प्रयोग होने का हवाला दिया है वही उनकी काव्य भाषा है। उस समय तक खड़ी बोली अथवा ब्रज भाषा जैसे शब्दों की रचना नहीं हुई थी। उसके बावजूद भी उनकी भाषा खड़ी बोली है जिसमें ब्रज भाषा का पुट है। उनका अपनी इस मातृभाषा के प्रति लगाव इतना गहरा था कि वे अपनी फारसी रचनाओं में भी हिंदी शब्दों का प्रयोग करने से नही चूकते थे।

अमीर खुसरो फारसी भाषा के विश्व विख्यात साहित्यकार थे। विश्व के फारसी साहित्य के इतिहास में अमीर खुसरो के नाम का कोई जोड़ नही है। ना केवल फारसी साहित्य की श्रेष्ठता के मामले में बल्कि गिनती के मामले में भी कोई उनके बराबर पूरे फारसी साहित्य की दुनिया में नही है। उन्होंने तीन लाख से अधिक और चार लाख से कुछ कम शेर लिखे। उनकी फारसी रचनाएं हिंदुस्तान से ज्यादा विदेशों में सुरक्षित हैं। उनके बारे में मौलाना शिबली नौमानी अपने ग्रन्थ शैरूल अजम में लिखते हैं कि हिंदुस्तान के छह सौ बरस के इतिहास में आज तक इस दर्जे का जामे-कमालात (उत्कृष्ठताओं से परिपूर्ण) पैदा नही हुआ। यहां तक कि गालिब भी अपनी शायरी की मिठास और खूबसूरती के लिए खुद को खुसरों का ही कर्जदार मानते हैं और कहते हैं कि मेरी शायरी में ये मिठास क्यों नही हो मैं इस रस के लिए खुसरो के पांव धोकर पीता हूं :

'गालिब मेरे कलाम में क्योंकर मजा ना हो
पीता हूं धोके खुसरूए शीरी सुखन के पांव।'

अमीर खुसरा को अपने हिंदुस्तानी होने पर गर्व था और वे अपनी मातृभाषा में काव्य रचना को भी अपना धर्म समझते थे। अपने दीवान गुरतुलकमाल की भूमिका में वे लिखते हैं :

'तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाब
शक्र मिस्त्री नदारम कज़ अरब्ब गोयम सुखन।'

अर्थात मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूं और हिंदवी में जवाब देता हूं। मेरे पास मिस्त्र की शक्र नही कि मैं अरबी में बात करूं। इसी क्रम और इसी दीवान में वे आग लिखते हैं :

चू मन तूती-ए-हिन्दम अर रासत पुसीं
ज़मन हिन्दवी पुर्स ता नग्ज़ गायम।

माने अगर सही बुझो तो मैं हिंदुस्तान की तूती हूं। अगर तुम मुझसे मीठी बातें करना चाहते हो तो हिन्दवी में बात करो। फारसी के महान साहित्यकार होने के बावजूद जहां अमीर खुसरो ने हिन्दवी को एक लोकप्रिय भाषा होने की नींव रखी तो उन को खुद भी हिन्दवी से ही अधिक प्रसिद्धि हासिल हुई। हालांकि अमीर खुसरो हिन्दवी के पहले सबसे लोकप्रिय कवि हुए परंतु उनसे डेढ़ सौ साल पहले मसउद साअद सुलेमान (1054-1131) हिन्दवी के पहले ज्ञात कवि थे जिन्होंने तीन दीवान लिखे एक अरबी, एक फारसी और एक हिंदी में।

अमीर खुसरो निर्विवाद रूप से हिन्दवी के पहले लोकप्रिय कवि थे परंतु यह दुर्भाग्य की बात ही है कि उनकी सारी हिन्दी रचनाएं संग्रहीत और सुरक्षित नही हैं। उनका जितना भी हिंदी साहित्य है वह लोगों की जबान पर और लोक सुलभ काव्य रचनाएं ही हैं। अभी तक उनकी प्राप्त रचनाओं में सबसे अधिक संख्या उन रचनाओं की है जो बर्लिन के स्प्रंगर संग्राहलय में प्राप्त हुई और डॉ. गोपीचंद नारंग ने उन 150 पहेलियों को प्रकाशित किया। स्प्रंगर ने भी ये पहेलियां हिंदी 1763 में अवध के पुस्तकालय से प्राप्त की थीं। भारत में लोगों ने खुसरो की पहेलियां और गीतों को पीढ़ी दर पीढ़ी मुंह जबानी याद करके सुरक्षित रखा है। अमीर खुसरो की रचनाओं की यही सुलभता बताती है कि वे कितने लोकप्रिय कवि थे।

अमीर खुसरो के यूं जन मानस में बने रहने का सबसे प्रमुख कारण उनकी रचनाओं का हिंदुस्तानी लोक जीवन से सीधा जुड़ाव है, उन्होंने अपनी रचनाओं में हिदुस्तानी जन जीवन, तीज त्योहार, शादी-विवाह, मेले, हाट-बाजार ग्राम और शहरी जीवन के हर पहलू का वर्णन किया है।

अमीर खुसरो का हिंदी के विकास में महत्वपूर्ण और अमिट योगदान है। वे एसे पहले कवि थे जिन्होंने जनभाषा की खड़ी बोली को अपने काव्य का माध्यम उसके रचने की भाषा बनाया। डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में लिखा है कि अमीर खुसरो जन साधारण की खड़ी बोली को साहित्यिक रूप देने में सबसे पहले सफल हुए। यह एक ऐसा समय था जब न तो ब्रज भाषा का कोई नाम था और ना ही उर्दू जैसी कोई अलग भाषा थी। उन्होंने यही सबसे बड़ा काम किया कि उन्होंने स्थापित काव्य मानकों को तोड़ते हुए खडी बोली में काव्य रचना की। उनकी कोई ऐसी व्यापक हिंदी काव्य रचनाए उपलब्ध नही हैं फिर भी अमीर खुसरो ने ऐसा काव्य रचा जो पिछले सैंकड़ों सालो से जन सामान्य के जीवन के साथ एकाकार हो चुका है। उन्होंने आज से सात सौ साल पहले जिस भाषा शैली की नींव डाली वर्तमान हिंदी और हिदी साहित्य उसी की देन है।

क्रमशः

असत्य कथाएं

महात्मा गांधी ने पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये दिलाए

कमोबेश भारत का हर नागरिक क्रिकेट और राजनीति का महारथी होता है। उसी तरह हमारे यहां लगभग हर व्यक्ति महात्मा गांधी के बारे में कोई न कोई राय जरूर रखता है, फिर चाहे वह अच्छी हो या बुरी। गांधी अक्सर लोगों के बीच बहस का विषय भी बनते हैं और बहस में जब गांधी विरोधी परास्त होने लगते हैं तब अक्सर ही वह कहानी सामने आती है जिसके सहारे उनके विरोधी गांधी वध को जायज ठहराने की हद तक चले जाते हैं। कहानी यूं है—गांधी ने भारत सरकार को ब्लैकमेल करके पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये दिलवाये थे। महात्मा गांधी को 55 करोड़ रुपये दिलवाने की बात सुर्खियों में तब आई जब गांधी के हत्यारे नाथूराम गोडसे ने अदालत में अपने बयान में गांधी की हत्या की वजहें गिनवाते हुए इन रुपयों का भी जिक्र किया। गांधी विरोधियों का कहना है कि कश्मीर में पाकिस्तान की तमाम आक्रामक गतिविधियों और घुसपैठ के बावजूद गांधी ने अनशन करके भारत सरकार पर यह दबाव बनाया कि वह पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये की आर्थिक मदद दे। मिर्च-मसाले के तौर पर कहानी में यह भी जोड़ा जाता है कि तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू और गृहमंत्री वल्लभ भाई पटेल कतई नहीं चाहते थे कि पाकिस्तान को यह मदद दी जाए लेकिन महात्मा गांधी ने उपवास करके ये 55 करोड़ रुपये पाकिस्तान को देने को मजबूर कर दिया।

सत्य तथ्य

“यह सच है कि पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपये की राशि दी गई थी लेकिन मदद का प्रचार एक सोची-समझी रणनीति के तहत किया गया है जो कि मिथ्या है। पाकिस्तान को दी गई मदद खैरात नहीं थी बल्कि भारत-पाक के विभाजन को शर्तों के मुताबिक परिसंपत्तियों और देनदारियों का जो बंटवारा हुआ था उसके तहत यह राशि भारत द्वारा पाकिस्तान को सौंपी जानी थी। वास्तव में पाकिस्तान को 75 करोड़ रुपये दिए जाने थे। 20 करोड़ रुपये की पहली किश्त पाकिस्तान को जारी की जा चुकी थी जबकि 55 करोड़ रुपये दिए जाने बाकी थे। इसी बीच कश्मीर पर पाकिस्तानी हमले की वजह से भारत ने 55 करोड़ की शेष राशि का भुगतान रोक दिया था। इस पर तत्कालीन गवर्नर जनरल माउंटबेटन ने महात्मा गांधी से मुलाकात की और कहा कि यह पाकिस्तान के साथ हुई संधि का उल्लंघन होगा। उसूलों के पक्के गांधीजी को उनकी बात जंची सो उन्होंने सार्वजनिक वक्तव्य देकर कहा कि पाकिस्तान को उसका बकाया पैसा दे दिया जाना चाहिए। यह बात निराधार है कि गांधीजी ने यह पैसा दिलवाने के लिए उपवास किया। गांधीजी विभाजन के बाद शांति बहाली की अपील करने पाकिस्तान भी जाना चाहते थे लेकिन उसके पहले वे पाकिस्तान को उसका पूरा हक दिलवाना चाहते थे।

साभार : तहलका

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067, भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in / www.sach.org.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेन्शंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017